Published By -

Oriental Human Developent Institute.
Allahabad. U.P. - 211004.

www.theequanimist.in

Price- Rs. 375/-

ISSN-2395-7468

Volume 12, Issue 1. Jan-Mar 2026

The Equanimist

ISSN : 2395-7468

Volume 12, Issue 1. January-March 2026
ISSN : 2395-7468
UGC Approved Journal No. 48457 (Old)

THE Equanimist

A peer reviewed refereed journal

Published as per the latest UGC guidelines.

Volume 12, Issue 1. January-March 2026
ISSN : 2395-7468
UGC Approved Journal No. 48457 (Old)

THE Equanimist

A peer reviewed refereed journal

Published as per the latest UGC guidelines.

Volume Editor

Dr. Kuldeep Kumar Pandey

The Equanimist

... A peer reviewed refereed journal

Editorial Advisory Board

Dr. U.S. Rai (Retd. Prof. University of Allahabad)
Dr. R.N. Lohkar (Retd. Prof. University of Allahabad)
Dr. V.C. Pande (Retd. Prof. University of Allahabad)
Dr. D.P. Singh (Retd. Prof. TISS, Mumbai)
Dr. Anand Kumar (Retd. Prof. J.N.U.)
Dr. D.V. Singh (Retd. Librarian University of Delhi)
Prof. D.A.P. Sharma (University of Delhi)

Editor in Chief

Dr. Nisheeth Rai (M.G.A.H.V., Wardha)

Associate Editors/Reviewers

Dr. Manoj Kr. Rai (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Virendra P. Yadav (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Pradeep Kr. Singh (University of Allahabad)
Dr. Shailendra K. Mishra (University of Allahabad)
Dr. Ehasan Hasan (Banaras Hindu University)
Dr. Shiv Singh Baghel (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Ravi S. Singh (University of Delhi)
Dr. Roopesh K. Singh (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Ajay Kumar Singh (Jammu University)

Editorial/Review Board Members

Dr. Tarun (University of Delhi)
Dr. Dhirendra Rai (Banaras Hindu University)
Dr. Shree Kant Jaiswal (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Kuldeep Kumar Pandey (M.G.A.H.V., Wardha)
Dr. Abhisekh Tripathi (Central University of Punjab, Bathinda)
Dr. Shiv Gopal (University of Allahabad)
Dr. Vijay Kumar Kanaujiya (V.B.S.P.U., Jaunpur)
Dr. Jitendra (Odisha State Open University, Sambhalpur)
Dr. Kamal Kumar (Pondicherry University, A&N)
Dr. Shiv Kumar (K.U., Bhawanipatna)
Dr. Ambuj Kumar Shukla (Shri Rawatpura Sarkar University, Raipur)

Managerial Board

Mr. K.K. Tripathi (M.G.A.H.V., Wardha)
Mr. Rajat Rai (State Correspondent, U.P. India Today Group)

The Equanimist

Volume 12, Issue 1. Jan-Mar 2026

S.NO.	Content	Pg. No.
1.	आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों पर हैरोल्ड लास्की के विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन **अरीबा किरमानी एवं सचिन पाठक**	01-11
2.	वैश्वीकरण के दौर में तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता **नैना प्रसाद**	12-22
3.	मणिपुरी कथावाचन परंपरा में ‘रामायण कथा’ **सिनाम तोन्दोन सिंह एवं मयाङ्लम्बम सदानंद सिंह**	23-35
4.	उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल का अध्ययन **आर. पुष्पा नामदेव एवं विश्वमोहन**	36-44
5.	वर्धा जिले के येलाकेळी ग्राम में स्वयं सहायता समूह (SHG) सदस्यों के परिवारों की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन **शिवाजी रघुनाथराव जोगदंड**	45-53
6.	1905 के बंगाल विभाजन और स्वदेशी आंदोलन का भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रभाव **दुर्गेश शाही**	54-63
7.	भारतीय लोकतांत्रिक विमर्श में जयप्रकाश की भूमिका **देवेश रंजन**	64-67
8.	हरिशंकर परसाई के साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यंग्य **ओम प्रकाश**	68-75
9.	A Critical Examination of Supranational Organizations and the Problem of Sovereignty **Mathew Sinu Simon**	76-86
10.	Understanding Barriers to Meaningful Participation of Women in Panchayati Raj Institution in Context of Bihar **Rajesh Chandra**	87-94
11.	बाया : राष्ट्रभाषा के विकास में अनुवाद एवं कोशों की भूमिका **मोहनन वी.टी.वी.**	95-101
12.	हिंदी की संघर्ष यात्रा और उसकी अंतरराष्ट्रीय स्थिति **एच.ए. हुनगुंद**	102-106
13.	आधुनिक समाज में बच्चों पर सोशल मीडिया का बढ़ता प्रभाव **सौम्या शंकर एवं सपना**	107-121
14.	उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका एवं मुनि की रेती (टिहरी गढ़वाल) नगर पालिका का तुलनात्मक अध्ययन : 74वां संविधान संशोधन अधिनियम के संदर्भ में **मनीष राणा एवं जे.पी. त्यागी**	122-132
15.	मनरेगा और पंचायती राज व्यवस्था : सारण जिला के दाउदपुर पंचायत में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण **अभिषेक कुमार सिंह**	133-143

16.	भोजपुरी में विशेषण पद **अनिल कुमार पाण्डेय**	144-155
17.	भारत-बांग्लादेश (वर्ष 2009-2019 तक) भू-राजनीतिक संबंध : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन **जय कान्त यादव**	156-167
18.	ISM-Based Analysis of Key Factors Affecting Consumer Investment Decisions in Gold and Silver in the Digital Era : Evidence from the Paytm Digital Gold Platform **Shiwani Chhoker**	168-185

Manuscript Timeline
Submitted : *January 09, 2026* ***Accepted :*** *January 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों पर हैरोल्ड लास्की के विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अरीबा किरमानी[1]
डॉ. सचिन पाठक[2]

सारांश

हैरोल्ड जे. लास्की (1893-1950) एक प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिक विचारक थे, जिनके राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों सम्बन्धी विचार क्रमशः बहुलवाद से विकसित होकर अधिक मार्क्सवादी समाजवाद की ओर उन्मुख हुए। यह शोधपत्र राज्य की पूर्ण संप्रभुता की लास्की द्वारा की गई आलोचना, राज्य को अनेक सामाजिक संघों में से एक के रूप में देखने वाले उनके बहुलवादी दृष्टिकोण तथा अधिकारों की उनकी उस अवधारणा का विश्लेषण करता है, जिसके अनुसार अधिकार सामाजिक रूप से निर्मित ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मानव विकास के लिए अनिवार्य हैं। इस अध्ययन में लास्की द्वारा प्रस्तावित अधिकारों के पदानुक्रम-आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों तथा कर्तव्यों के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धी की भी विवेचना की गई है। अंततः, इन विचारों को आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में स्थापित करते हुए वैश्वीकरण, मानवाधिकार ढाँचे, कल्याणकारी राज्य तथा राज्य शक्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं के बीच तनाव जैसे समकालीन मुद्दो में उनकी प्रासंगिकता को रेखांकित किया गया है। लास्की की प्रमुख कृतियों और द्वितीयक विश्लेषणों के आधार पर यह शोधपत्र प्रतिपादित करता है कि उनके विचार लोकतांत्रिक शासन और सामाजिक न्याय की समकालीन चुनौतियों के समाधान में आज भी अत्यंत प्रासंगिक हैं।

मुख्य शब्द *– मार्क्सवाद, समाजवाद, सर्वसत्तावाद, संप्रभुता, बहुलवाद, विकेन्द्रीकरण, राष्ट्र-राज्य।*

परिचय-

हैरोल्ड जोसेफ लास्की का जन्म 30 जून 1893 को इंग्लैंड के मैनचेस्टर नगर में एक यहूदी परिवार में हुआ था, जो कपास व्यापार से जुड़ा हुआ था। उन्होंने मैनचेस्टर ग्रामर स्कूल तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के न्यू कॉलेज से शिक्षा प्राप्त की, जहाँ से उन्होंने 1914 में इतिहास विषय में स्नातक उपाधि प्राप्त की। प्रारम्भ में लास्की ने यूजीनिक्स (नस्ल-सुधार) जैसे विषयों में रुचि दिखाई, किन्तु शीघ्र ही उनका झुकाव राजनीतिक सिद्धांत और अर्थशास्त्र की ओर हो गया। उन्होंने मैकगिल विश्वविद्यालय, हार्वर्ड, येल जैसे प्रतिष्ठित संस्थानों में अध्यापन कार्य किया और अंततः लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से जुड़े, जहाँ 1926 में उन्हें राजनीति विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। यह पद उन्होंने 1950 में अपने निधन तक संभाले रखा। लास्की

[1] शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, आर.एम.पी. (पी.जी.) कॉलेज, सीतापुर; (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ).

[2] असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, आर.एम.पी. (पी.जी.) कॉलेज, सीतापुर; (लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ).

राजनीतिक रूप से भी अत्यंत सक्रिय थे। वे फैबियन सोसाइटी (1922-1936) के कार्यकारी सदस्य रहे, लेफ्ट बुक क्लब के सह-संस्थापक थे तथा 1945-1946 के दौरान ब्रिटिश लेबर पार्टी के अध्यक्ष भी रहे।

लास्की की वैचारिक यात्रा प्रारम्भिक बहुलवाद से 1930 के दशक में मार्क्सवाद की ओर अग्रसर हुई, जिस पर महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) और द्वितीय विश्व युद्ध जैसी ऐतिहासिक घटनाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी विपुल लेखनी में स्टडीज इन द प्रॉब्लम ऑफ सॉवरेन्टी (1917), ऑथॉरिटी इन द मॉडर्न स्टेट (1919) और ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (1925) जैसी प्रमुख कृतियाँ शामिल हैं, जिनमें उन्होंने राज्य सत्ता की पारंपरिक अवधारणाओं की आलोचना की तथा अधिकारों के निर्माण में समाज की भूमिका पर विशेष बल दिया।

लास्की के सिद्धांत ऐसे समय में विकसित हुए जब राजनीति में गहन उथल-पुथल हो रही थी, जिसमें सर्वसत्तावाद का उदय और कल्याणकारी राज्यों का विस्तार प्रमुख था। उनके बहुलवादी दृष्टिकोण ने एकरूपी (एकाधिकारवादी) राज्य की धारणा को चुनौती दी और विकेंद्रीकृत सत्ता तथा स्वैच्छिक संघों की भूमिका का समर्थन किया। व्यक्तिगत अधिकारों के संदर्भ में उन्होंने उन्हें जन्मजात न मानकर आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक, गतिशील सामाजिक संरचनाएँ माना। यह शोधपत्र इन विचारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करता है, जहाँ वैश्वीकरण और अतिराष्ट्रीय संस्थाएँ पारंपरिक संप्रभुता को निरन्तर कमजोर कर रही हैं।

राज्य पर लास्की के विचारः बहुलवाद और संप्रभुता की आलोचना-

राज्य की अवधारणा पर हैरोल्ड लास्की का दृष्टिकोण बहुलवाद पर आधारित था, जो जॉन ऑस्टिन जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित पूर्ण संप्रभुता की धारणा को अस्वीकार करता है। लास्की का तर्क था कि संप्रभुता अर्थात् बिना किसी उच्च सत्ता के बाध्यकारी आदेश जारी करने की कानूनी क्षमता राज्य का कोई जन्मजात, अविभाज्य गुण नहीं है, बल्कि यह सामाजिक हितों के समन्वय के लिए प्रयुक्त एक व्यावहारिक उपकरण मात्र है। अपनी कृति स्टडीज इन द प्रॉब्लम ऑफ सॉवरेन्टी (1917) में लास्की ने प्रतिपादित किया कि राज्य अनेक सामाजिक संघों- जैसे श्रमिक संघ, चर्च और स्वैच्छिक संगठनों में से केवल एक है, जिनमें से प्रत्येक व्यक्ति की निष्ठा प्राप्त करता है। उन्होंने संप्रभुता की औपचारिक विधिशास्त्रीय अवधारणा की आलोचना करते हुए उसे अमूर्त और ऐतिहासिक संदर्भों से रहित बताया, जो नैतिक और व्यावहारिक आयामों की उपेक्षा करती है।

लास्की के अनुसार राज्य की सत्ता सहमति से उत्पन्न होती है और यह उसकी उस क्षमता पर निर्भर करती है, जिसके माध्यम से वह समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तथा व्यक्तियों को साधन नहीं, बल्कि लक्ष्य के रूप में स्वीकार करे। राज्य के प्रति आज्ञाकारिता स्वतः स्फूर्त नहीं होती, बल्कि इस शर्त पर आधारित होती है कि उसके कानून न्याय, सुरक्षा और स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करें। जब राज्य प्रतिनिधित्व और संघवाद के माध्यम से परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य स्थापित करने में असफल होता है, तब असहमति और विरोध उत्पन्न होता है। लास्की ने यह भी स्पष्ट किया कि बहुलवाद विविधता को एकता के अधीन करता है, किंतु राज्य की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं करता। इस दृष्टि में व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे कानूनों का

मूल्यांकन उनके व्यवहारिक परिणामों के आधार पर करें और यदि राज्य सत्ता का दुरुपयोग करे तो उससे अपनी निष्ठा वापस ले लें।

अपनी बाद की कृतियों, जैसे द स्टेट इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस (1935) में, लास्की के विचार माक्र्सवाद की ओर झुकते दिखाई देते हैं, जहाँ उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत राज्य को वर्गीय प्रभुत्व के एक उपकरण के रूप में देखा। तथापि, उन्होंने बहुलवादी तत्वों को बनाए रखते हुए संप्रभु राज्यों से परे एक सहयोगात्मक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की वकालत की। समग्र रूप से लास्की का राज्य-सिद्धांत राज्य को प्रभुत्व स्थापित करने वाली सत्ता के बजाय एक समन्वयक के रूप में प्रस्तुत करता है, जो अधिकतम मानवीय इच्छाओं की पूर्ति हेतु नैतिक दायित्वों से बंधा होता है।

व्यक्तिगत अधिकारों पर लास्की के विचार-

लास्की ने अधिकारों को परिभाषित करते हुए कहा कि वे ''सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना कोई भी व्यक्ति सामान्य रूप से अपने सर्वोत्तम रूप में स्वयं को विकसित नहीं कर सकता।'' उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए अधिकारों को सामाजिक रूप से प्रदत्त और संरक्षित माना, जिनका उद्देश्य मानव कल्याण सुनिश्चित करना है। उनके अनुसार अधिकार स्थिर नहीं होते, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के साथ विकसित होते रहते हैं- उदाहरण के लिए, आधुनिक युग में इंटरनेट तक पहुँच का अधिकार एक आवश्यक शर्त के रूप में उभरता जा रहा है। अपनी कृति लिबर्टी इन द मॉडर्न स्टेट (1930) में लास्की ने तर्क दिया कि वास्तविक स्वतंत्रता वहाँ विद्यमान होती है जहाँ व्यक्ति केवल कानूनी प्रतिबंधों की अनुपस्थिति में ही नहीं, बल्कि अपनी निष्ठाओं का चयन स्वतंत्र रूप से कर सके।

लास्की ने अधिकारों का एक पदानुक्रम प्रस्तावित किया। उनके अनुसार आर्थिक अधिकार (जैसे काम का अधिकार और उचित मजदूरी) सबसे आधारभूत हैं, क्योंकि वे जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और शोषण को रोकते हैं। इसके बाद सामाजिक अधिकार (जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य) आते हैं, जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं। अंततः राजनीतिक अधिकार (जैसे मतदान का अधिकार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) इस संरचना का शिखर हैं, जिनका वास्तविक अर्थ तभी है जब निचले स्तर के अधिकार सुनिश्चित हों। आर्थिक सुरक्षा के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रताएँ केवल भ्रम मात्र रह जाती हैं, क्योंकि असमानता लोकतांत्रिक सहभागिता को कमजोर कर देती है।

लास्की के अनुसार अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। उदाहरणस्वरूप, शिक्षा का अधिकार समाज के प्रति योगदान देने के कर्तव्य को भी निहित करता है। उन्होंने व्यक्तिगत जीवन के क्षेत्रों में राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप के प्रति चेतावनी दी और ऐसे आचरण-क्षेत्रों की वकालत की, जहाँ राज्य को हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए जैसे- धर्म और श्रम से सम्बन्धित व्यक्तिगत या सामूहिक स्वतंत्रताएँ। अपने मार्क्सवादी चरण में लास्की ने वर्ग-आधारित उत्पीड़न के विरुद्ध आर्थिक अधिकारों पर विशेष बल दिया तथा कानून को राज्य के दमनकारी उपकरण के रूप में देखा, जिसे लोकतांत्रिक बनाना अनिवार्य है।

लास्की के चिंतन में राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों का परस्पर सम्बन्ध-

हैरोल्ड जे. लास्की के राजनीतिक चिंतन में राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों का सम्बन्ध केंद्रीय महत्व रखता है। उनका विचार पारम्परिक राज्य-संप्रभुता के सिद्धांतों से भिन्न है, क्योंकि वे राज्य को सर्वशक्तिमान और अधिकारों का एकमात्र स्रोत मानने के बजाय उसे सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला एक नैतिक और कार्यात्मक साधन मानते हैं। लास्की के अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए। इसीलिए उनके चिंतन का मूल केंद्र मानव गरिमा, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय है, जिनका वास्तविक अर्थ और मूल्य व्यक्तिगत अधिकारों की प्रभावी सुरक्षा और विस्तार में निहित है।

लास्की अधिकारों की प्रकृति को समझने के लिए उन्हें सामाजिक संदर्भ में रखते हैं। वे प्राकृतिक अधिकारों की उस धारणा से सहमत नहीं हैं, जिसमें अधिकारों को राज्य से पूर्व विद्यमान और अमूर्त माना जाता है। उनके अनुसार अधिकार सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं और समय तथा समाज के साथ उनका स्वरूप बदलता रहता है। अधिकार व्यक्ति की इच्छाओं की मनमानी अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे उन परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अनिवार्य होती हैं। इस दृष्टि से अधिकारों का अस्तित्व तभी सार्थक है, जब समाज और राज्य उन्हें व्यवहार में लागू करने के लिए आवश्यक साधन और अवसर उपलब्ध कराएँ।

लास्की स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि राज्य अधिकारों का निर्माता नहीं, बल्कि उनका संरक्षक और कार्यान्वयनकर्ता है। यदि राज्य केवल विधिक घोषणाओं तक सीमित रह जाए और सामाजिक-आर्थिक असमानताओं को दूर करने में असफल रहे, तो अधिकार केवल कागजी सिद्धांत बनकर रह जाते हैं। इसीलिए वे राज्य से अपेक्षा करते हैं कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और न्यूनतम जीवन स्तर जैसी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करे, क्योंकि आर्थिक असमानता राजनीतिक और नागरिक अधिकारों के प्रभावी प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा है। इस संदर्भ में लास्की का चिंतन सामाजिक अधिकारों को विशेष महत्व प्रदान करता है और यह दर्शाता है कि स्वतंत्रता केवल विधिक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता भी है।

लास्की का बहुलवादी सिद्धांत उनके राज्य-सम्बन्धी विचारों का एक महत्वपूर्ण आयाम है। वे राज्य को समाज की एकमात्र सर्वोच्च संस्था मानने के विचार का विरोध करते हैं। उनके अनुसार समाज अनेक संघों, संगठनों और समुदायों से मिलकर बना है जैसे- परिवार, चर्च, ट्रेड यूनियन, व्यावसायिक संगठन और स्थानीय निकाय जिनकी अपनी-अपनी स्वायत्तता और भूमिका होती है। राज्य इनमें से केवल एक संस्था है, यद्यपि उसका क्षेत्र व्यापक है। इस बहुलवादी ढाँचे में व्यक्तिगत अधिकार राज्य की सत्ता पर एक नैतिक सीमा का कार्य करते हैं। राज्य को इन स्वायत्त समूहों के अस्तित्व और अधिकारों का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन को अर्थ देता है।

लास्की के अनुसार राज्य की संप्रभुता निरपेक्ष नहीं, बल्कि सशर्त और नैतिक होती है। राज्य की शक्ति तभी वैध मानी जा सकती है, जब वह न्यायपूर्ण कानूनों के माध्यम से अधिकारों की रक्षा करे और सामाजिक कल्याण को बढ़ावा दे। यदि राज्य दमनकारी बन जाता है या किसी विशेष वर्ग के हितों का साधन बन जाता है, तो उसकी वैधता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार लास्की के यहाँ संप्रभुता शक्ति का नहीं, बल्कि सेवा और उत्तरदायित्व का सिद्धांत है। राज्य को नागरिकों की सहमति और विश्वास पर आधारित होना चाहिए, और यह सहमति तभी सम्भव है, जब अधिकारों की वास्तविक सुरक्षा हो।

राज्य और अधिकारों के सम्बन्ध को संतुलित करने के लिए लास्की संघीय राज्य संरचना का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार संघीय व्यवस्था सत्ता के विकेंद्रीकरण का माध्यम है, जो विविध हितों और स्थानीय आवश्यकताओं को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। केंद्रीयकृत राज्य संरचना में सत्ता के दुरुपयोग और अधिकारों के हनन की संभावना अधिक होती है, जबकि संघीय व्यवस्था विभिन्न स्तरों पर शक्ति के विभाजन के माध्यम से स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व दोनों को सुदृढ़ करती है। इस दृष्टि से संघीय व्यवस्था न केवल प्रशासनिक सुविधा का साधन है, बल्कि व्यक्तिगत और समूहगत अधिकारों की रक्षा का भी एक प्रभावी माध्यम है।

लास्की का चिंतन केवल राष्ट्रीय स्तर तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसे अंतरराष्ट्रीय आयाम भी प्राप्त होता है। उनकी 'सिविटास मैक्सिमा' की अवधारणा इस बात को रेखांकित करती है कि आधुनिक विश्व में व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा केवल राष्ट्र-राज्य के भीतर पर्याप्त नहीं है। वे मानते हैं कि राष्ट्र-राज्य भी अंतरराष्ट्रीय नैतिक मानकों और नियमों के अधीन होने चाहिए, ताकि युद्ध, उपनिवेशवाद और मानवाधिकारों के उल्लंघन जैसी समस्याओं पर नियंत्रण किया जा सके। इस वैश्विक दृष्टिकोण में व्यक्तिगत अधिकार राष्ट्रीय सीमाओं से परे विस्तारित होते हैं और मानवता को एक व्यापक नैतिक समुदाय के रूप में देखा जाता है।

लास्की के चिंतन में अधिकार और कर्तव्य भी परस्पर जुड़े हुए हैं। वे अधिकारों को निरंकुश स्वतंत्रता का पर्याय नहीं मानते, बल्कि उन्हें सामाजिक उत्तरदायित्वों से सम्बद्ध करते हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्तव्य जुड़ा होता है, और यह कर्तव्य सामाजिक सहयोग और सामूहिक कल्याण को बढ़ावा देता है। राज्य का कार्य इस संतुलन को बनाए रखना है, ताकि न तो अधिकारों के नाम पर सामाजिक अराजकता फैले और न ही कर्तव्यों के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन हो।

समग्र रूप से देखा जाए तो लास्की के चिंतन में राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों का सम्बन्ध परस्पर निर्भरता और संतुलन पर आधारित है। अधिकारों के बिना राज्य निरंकुश बन जाता है, और राज्य के बिना अधिकार निष्प्रभावी रह जाते हैं। लास्की का विश्वास है कि अधिकार तभी पनप सकते हैं, जब राज्य बहुलवादी, लोकतांत्रिक और सामाजिक न्याय के प्रति प्रतिबद्ध हो। उनका चिंतन आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों के लिए एक नैतिक मार्गदर्शन प्रदान करता है, जिसमें सत्ता का उद्देश्य प्रभुत्व नहीं, बल्कि मानव व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास और सामाजिक समरसता की स्थापना है।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में लास्की के विचारों की प्रासंगिकता-

हैरोल्ड जे. लास्की के राजनीतिक विचार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में विकसित हुए, किंतु उनकी वैचारिक गूँज इक्कीसवीं शताब्दी की समकालीन राजनीतिक व्यवस्थाओं में अत्यंत स्पष्ट रूप से सुनाई देती है। वैश्वीकरण, तकनीकी विकास, बढ़ती आर्थिक असमानता, लोकतंत्र का क्षरण, सत्तावादी प्रवृत्तियों का उभार तथा वैश्विक समस्याओं की जटिलता ने आधुनिक राज्य की पारम्परिक संप्रभुता और भूमिका पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगा दिए हैं। ऐसे परिदृश्य में लास्की का बहुलवादी दृष्टिकोण, सम्प्रभुता की आलोचना और अधिकारों की सामाजिक-आर्थिक व्याख्या आधुनिक राजनीति को समझने और दिशा देने में अत्यंत उपयोगी प्रतीत होती है।

वैश्वीकरण के युग में राज्य की सम्प्रभुता अब पूर्ण और निरपेक्ष नहीं रह गई है। यूरोपीय संघ, संयुक्त राष्ट्र, विश्व व्यापार संगठन, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संस्थाओं जैसी अतिराष्ट्रीय संस्थाएँ राज्यों की नीतियों और निर्णयों को प्रभावित कर रही हैं। यह स्थिति लास्की की उस धारणा की पुष्टि करती है, जिसमें उन्होंने पूर्ण संप्रभुता को एक मिथक बताया था। लास्की का मानना था कि आधुनिक समाज में सत्ता अनेक स्तरों और संस्थाओं में विभाजित होती है और राज्य अकेला सर्वोच्च शक्ति केंद्र नहीं हो सकता। बहु-स्तरीय शासन और साझा संप्रभुता की समकालीन अवधारणाएँ वस्तुतः लास्की के बहुलवादी दृष्टिकोण का आधुनिक रूप हैं।

जलवायु परिवर्तन, अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, वैश्विक महामारी, साइबर सुरक्षा और अंतरराष्ट्रीय प्रवासन जैसे मुद्दे किसी एक राष्ट्र-राज्य की सीमाओं में समाधान नहीं पा सकते। इन समस्याओं से निपटने के लिए राज्यों को अपनी सम्प्रभुता के कुछ अंश अंतरराष्ट्रीय सहयोग और वैश्विक शासन को सौंपने पड़ते हैं। इस संदर्भ में लास्की की 'सिविटास मैक्सिमा' की परिकल्पना विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है। वे मानते थे कि एक ऐसा वैश्विक नैतिक और राजनीतिक ढाँचा विकसित होना चाहिए, जिसमें राष्ट्र-राज्य भी सार्वभौमिक नियमों और मानवाधिकार मानकों के अधीन हों। आज संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार परिषद, अंतरराष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय और वैश्विक जलवायु समझौते इसी दिशा में उठाए गए कदम माने जा सकते हैं।

कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में भी लास्की के विचारों की गहरी छाप दिखाई देती है। उन्होंने अधिकारों को केवल नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रताओं तक सीमित न रखकर आर्थिक और सामाजिक अधिकारों को प्राथमिकता दी। उनके अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक हो सकती है, जब व्यक्ति को न्यूनतम आर्थिक सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य और सम्मानजनक जीवन स्तर प्राप्त हो। आधुनिक कल्याणकारी नीतियाँ जैसे- सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली, मुफ्त या सुलभ शिक्षा और श्रम संरक्षण कानून। लास्की के इसी अधिकार-क्रम को मूर्त रूप प्रदान करती हैं।

समकालीन बहसों में सार्वभौमिक बुनियादी आय जैसी नीतियों का समर्थन भी लास्की की विचारधारा से वैचारिक आधार प्राप्त करता है। यह धारणा कि आर्थिक सुरक्षा नागरिकों को स्वतंत्र और सक्रिय राजनीतिक सहभागिता के योग्य बनाती है, लास्की के चिंतन का केंद्रीय तत्व है। भारत की महात्मा गांधी राष्ट्रीय

ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम जैसी योजनाएँ इस दृष्टिकोण का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जहाँ रोजगार को अधिकार के रूप में मान्यता देकर राज्य ने सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि लास्की के विचार केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि नीतिगत स्तर पर भी आज प्रासंगिक हैं।

मानवाधिकारों के आधुनिक ढाँचों में भी लास्की की अनुकूलनशील अधिकार अवधारणा दिखाई देती है। मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (1948) में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को भी शामिल किया गया है। यह दृष्टिकोण लास्की के उस विचार से मेल खाता है, जिसमें वे अधिकारों को ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों से विकसित होने वाली अवधारणा मानते हैं। उनके अनुसार अधिकार स्थिर नहीं होते, बल्कि समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप उनका विस्तार और पुनर्परिभाषा होती रहती है। आज डिजिटल अधिकार, पर्यावरणीय अधिकार और डेटा गोपनीयता जैसे नए अधिकारों की माँग इसी अनुकूलनशील दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करती है।

बढ़ती आर्थिक असमानता और नवउदारवादी नीतियों के संदर्भ में लास्की की वर्गीय प्रभुत्व संबंधी चेतावनियाँ अत्यंत प्रासंगिक हो जाती हैं। उन्होंने चेताया था कि जब आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में केंद्रित हो जाती है, तो राजनीतिक स्वतंत्रताएँ औपचारिक बनकर रह जाती हैं। समकालीन लोकतंत्रों में कॉरपोरेट प्रभाव, चुनावी वित्तपोषण में असमानता और नीति-निर्माण पर पूँजी के दबदबे ने इस खतरे को और गहरा कर दिया है। लास्की का यह तर्क कि आर्थिक विषमता लोकतंत्र की आत्मा को कमजोर करती है, आज के समय में और अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है।

सत्तावाद और निगरानी राज्य के बढ़ते प्रभाव के संदर्भ में भी लास्की का बहुलवादी दृष्टिकोण महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। वे नागरिक समाज, स्वैच्छिक संगठनों, श्रमिक संघों और अन्य सामाजिक समूहों को लोकतंत्र के संरक्षक के रूप में देखते थे। आज गैर-सरकारी संगठन, स्वतंत्र मीडिया और नागरिक आंदोलन राज्य की अतिक्रमणकारी नीतियों जैसे- सेंसरशिप, व्यापक निगरानी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध के विरुद्ध प्रतिरोध का माध्यम बनते हैं। लास्की का बहुलवाद इस बात पर बल देता है कि लोकतंत्र केवल चुनावों से नहीं, बल्कि सशक्त नागरिक समाज से जीवंत रहता है।

लास्की के विचार आलोचना से अछूते नहीं हैं। कुछ आलोचक यह तर्क देते हैं कि उनके चिंतन में मार्क्सवादी झुकाव आधुनिक विविधतापूर्ण समाजों में केंद्रीकृत योजना और राज्य हस्तक्षेप की जोखिमों को पर्याप्त रूप से नहीं समझ पाता। अत्यधिक राज्य नियंत्रण नवाचार, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और स्थानीय विविधताओं को दबा सकता है। फिर भी, इन आलोचनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना कठिन है कि असमानता, सत्ता के केंद्रीकरण और वैश्विक शासन की समस्याओं पर लास्की का विश्लेषण आज अप्रासंगिक हो गया है।

'वेस्टफेलियन विफलता' की अवधारणा- जिसमें राष्ट्र-राज्य वैश्विक समस्याओं से निपटने में अक्षम सिद्ध हो रहा है, लास्की के चिंतन को और अधिक समसामयिक बना देती है। वे पहले ही संकेत दे चुके थे कि पारम्परिक संप्रभु राज्य आधुनिक विश्व की जटिलताओं के लिए अपर्याप्त हो सकता है। अतः अधिक न्यायसंगत, बहुलवादी और सहकारी राजनीतिक संरचनाओं का विकास आवश्यक है, जहाँ सत्ता का उद्देश्य प्रभुत्व नहीं, बल्कि मानव कल्याण हो।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में लास्की के विचार केवल ऐतिहासिक महत्व के नहीं, बल्कि वैचारिक मार्गदर्शन प्रदान करने वाले सिद्धांत हैं। वैश्वीकरण, मानवाधिकार, कल्याणकारी राज्य, लोकतांत्रिक संकट और वैश्विक शासन की चुनौतियों के संदर्भ में उनका चिंतन हमें यह समझने में सहायता करता है कि राज्य की वैधता शक्ति में नहीं, बल्कि न्याय, समानता और मानव गरिमा की रक्षा में निहित है। इस प्रकार, लास्की का राजनीतिक दर्शन आज भी अधिक समावेशी, न्यायपूर्ण और संतुलित राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण के लिए अत्यन्त प्रासंगिक बना हुआ है।

निष्कर्ष-

हैरोल्ड लास्की का राजनीतिक चिंतन राज्य और व्यक्तिगत अधिकारों के पारस्परिक सम्बन्धों का एक गहन, आलोचनात्मक और नैतिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उनका विश्लेषणात्मक ढाँचा सत्ता को केवल कानूनी या संस्थागत व्यवस्था के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों, वर्गीय संरचनाओं और नैतिक दायित्वों से जुड़ी एक जीवन्त प्रक्रिया के रूप में समझता है। इसी कारण लास्की राज्य को निरपेक्ष संप्रभु सत्ता मानने के पारम्परिक दृष्टिकोण की आलोचना करते हैं और एक ऐसे बहुलवादी तथा सहमति-आधारित राज्य की वकालत करते हैं, जो मानव व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक सामाजिक परिस्थितियों को प्राथमिकता देता हो। उनके अनुसार राज्य की सार्थकता इसी में निहित है कि वह शक्ति के प्रयोग के माध्यम से नहीं, बल्कि न्याय, समानता और अधिकारों की रक्षा के माध्यम से अपनी वैधता स्थापित करे।

लास्की का बहुलवादी दृष्टिकोण इस मान्यता पर आधारित है कि समाज केवल राज्य से नहीं, बल्कि अनेक स्वायत्त संस्थाओं, संगठनों और समूहों से मिलकर बना होता है। परिवार, समुदाय, श्रमिक संघ, पेशेवर संगठन और स्वैच्छिक संस्थाएँ व्यक्ति के सामाजिक जीवन को अर्थ प्रदान करती हैं और उसके अधिकारों के वास्तविक प्रयोग के लिए आवश्यक आधार तैयार करती हैं। इस संदर्भ में राज्य की भूमिका इन संस्थाओं को दबाने या नियंत्रित करने की नहीं, बल्कि उनके बीच संतुलन और समन्वय स्थापित करने की होनी चाहिए। सहमति-आधारित राज्य की यह अवधारणा सत्ता के केंद्रीकरण को सीमित करती है और व्यक्ति तथा समूहों की स्वायत्तता को सुरक्षित रखती है।

लास्की की वैचारिक यात्रा बहुलवाद से समाजवाद की ओर स्वतंत्रता और समानता के बीच विद्यमान तनावों को स्पष्ट रूप से रेखांकित करती है। प्रारम्भिक बहुलवादी चिंतन में वे राज्य की सीमाओं और सामाजिक संगठनों की स्वायत्तता पर बल देते हैं, जबकि बाद के समाजवादी झुकाव में वे आर्थिक असमानता और वर्गीय

प्रभुत्व को अधिकारों की वास्तविक प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। उनके अनुसार केवल औपचारिक राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक अर्थहीन है, जब तक सामाजिक और आर्थिक समानता सुनिश्चित न हो। इस प्रकार, लास्की के चिंतन में स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे की पूरक अवधारणाएँ हैं, जिनका संतुलन लोकतांत्रिक राज्य की सफलता के लिए अनिवार्य है।

व्यक्तिगत अधिकारों और सामूहिक आवश्यकताओं के संतुलन पर लास्की की अंतर्दृष्टि उन्हें अन्य उदारवादी चिंतकों से अलग करती है। वे अधिकारों को निरंकुश व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन नहीं मानते, बल्कि उन्हें सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ देखते हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ एक सामाजिक कर्तव्य निहित होता है और राज्य का दायित्व है कि वह इस संतुलन को बनाए रखे। इस दृष्टि से लास्की का चिंतन न तो व्यक्तिवादी अराजकता का समर्थन करता है और न ही सामूहिकता के नाम पर व्यक्ति के दमन का।

वैश्वीकरण और बढ़ती असमानता से चिन्हित आधुनिक राजनीतिक परिदृश्य में लास्की के विचार विशेष प्रासंगिकता प्राप्त करते हैं। आज राज्य की संप्रभुता पूर्ण और निरपेक्ष नहीं रह गई है; अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ, वैश्विक बाजार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ राज्य की नीतियों और निर्णयों को प्रभावित कर रही हैं। लास्की का यह तर्क कि संप्रभुता नैतिक दायित्वों से बंधी होनी चाहिए, इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे मानते हैं कि राज्य की शक्ति तभी वैध है, जब वह मानवाधिकारों, सामाजिक न्याय और अंतरराष्ट्रीय नैतिक मानकों के अनुरूप प्रयोग की जाए।

अंतरराष्ट्रीय सहयोग पर लास्की का बल उनके चिंतन को वैश्विक आयाम प्रदान करता है। उनकी 'सिविटास मैक्सिमा' की परिकल्पना इस विचार को सुदृढ़ करती है कि आधुनिक विश्व में अधिकारों की सुरक्षा केवल राष्ट्रीय स्तर पर पर्याप्त नहीं है। जलवायु परिवर्तन, प्रवासन, युद्ध और मानवाधिकार उल्लंघन जैसी समस्याएँ राज्यों से परे हैं और इनके समाधान के लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग और साझा नैतिक ढाँचे की आवश्यकता है। इस प्रकार लास्की का चिंतन वैश्विक शासन की दिशा में एक नैतिक और वैचारिक मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

समकालीन नीति-निर्माताओं के लिए लास्की के सिद्धांत यह संकेत देते हैं कि शासन-प्रणाली को अनुकूलनशील, समावेशी और न्याय-केन्द्रित होना चाहिए। अधिकारों की सुनिश्चितता केवल संवैधानिक घोषणाओं से नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक नीतियों, कल्याणकारी कार्यक्रमों और अंतरराष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से संभव है। लास्की के विचारों पर पुनर्विचार करके आधुनिक राज्य परस्पर-सम्बद्ध विश्व में अधिकारों की रक्षा, असमानता में कमी और लोकतांत्रिक मूल्यों के सुदृढ़ीकरण से जुड़ी चुनौतियों का अधिक प्रभावी ढंग से समाधान कर सकता है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हैरोल्ड लास्की का विश्लेषणात्मक ढाँचा आज भी राज्य, सत्ता और अधिकारों की समझ के लिए एक सशक्त वैचारिक उपकरण प्रदान करता है। उनका चिंतन हमें यह

स्मरण कराता है कि राज्य का अंतिम उद्देश्य प्रभुत्व नहीं, बल्कि मानव उत्कर्ष और सामाजिक न्याय की स्थापना है, और यही विचार आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए उनकी कालातीत प्रासंगिकता का आधार है।

संदर्भ-

- Deane, H. A. (1955). *The political ideas of Harold J. Laski*. Columbia University Press.
- Laski, H. J. (1917). *Studies in the problem of sovereignty*. Yale University Press.
- Laski, H. J. (1921). *Authority in the modern state*. Yale University Press.
- Laski, H. J. (1925). *A grammar of politics*. George Allen & Unwin.
- Laski, H. J. (1930). *Liberty in the modern state*. George Allen & Unwin.
- Laski, H. J. (1933). *Democracy in crisis*. Viking Press.
- Laski, H. J. (1935). *The state in theory and practice*. Viking Press.
- Eckersley, R. (2022). Liberalism, pluralism and the sphere division in Harold Laski. *Theoria: A Journal of Social and Political Theory, 69*(170), 1–25.
- Encyclopaedia Britannica. (n.d.). Harold Joseph Laski. In *Encyclopaedia Britannica*. Retrieved December 7, 2025, from https://www.britannica.com/biography/Harold-Joseph-Laski
- Jupp, P. (2018). Harold Laski's international functionalism: A socialist challenge to the state system. *The International History Review, 40*(3), 473–492. https://doi.org/10.1080/07075332.2018.1425892
- Lamb, P. (1999). Harold Laski (1893–1950): Political theorist of a world in crisis. *Review of International Studies, 25*(3), 329–342. https://doi.org/10.1017/S026021050000848X
- Miliband, R. (1999). Harold Laski: An exemplary public intellectual. *New Left Review, I*(200), 5–23.
- O'Sullivan, N. (2018). A liberal ghost? The left, liberal democracy and the legacy of Harold Laski's teaching. *The International History Review, 40*(5), 1045–1062. https://doi.org/10.1080/03086534.2018.1519245

- Tully, J. (2005). Harold Laski on unsettling sovereignty, rediscovering democracy. *Political Research Quarterly, 58*(4), 613–626. https://doi.org/10.1177/106591290505800413
- Wilde, N. (1922). [Review of the book *The foundations of sovereignty and other essays*, by H. J. Laski]. *International Journal of Ethics, 32*(4), 442.
- van der Zee, F. R. R. (2024). Technology, conscience, and the political: Harold Laski's pluralism in Carl Schmitt's terms. *Constellations*. Advance online publication. https://doi.org/10.1111/1467-8675.12789

Manuscript Timeline
Submitted : *January 12, 2026* ***Accepted :*** *January 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

वैश्वीकरण के दौर में तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता

नैना प्रसाद[1]

सारांश

वर्तमान युग वैश्वीकरण का युग है, जिसमें विश्व के विभिन्न राष्ट्र आर्थिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी, संचार क्रांति तथा बाजारवादी नीतियों ने विश्व को एक 'वैश्विक गाँव' में रूपांतरित कर दिया है। इस बदलते परिदृश्य में साहित्य की प्रकृति, विषयवस्तु और दृष्टिकोण में भी व्यापक परिवर्तन हुए हैं। अब साहित्य केवल स्थानीय अनुभवों तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि वह वैश्विक संदर्भों, बहुसांस्कृतिक अनुभवों और अंतर्सांस्कृतिक संवाद का प्रतिनिधित्व करने लगा है। ऐसी स्थिति में तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। तुलनात्मक साहित्य विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और साहित्यिक परंपराओं के बीच संबंधों का अध्ययन करता है। यह न केवल साहित्यिक कृतियों की समानताओं और भिन्नताओं का विश्लेषण करता है, बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भों को भी समझने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से यह वैश्वीकरण के प्रभाव से उत्पन्न सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं और जटिलताओं को समझने का एक सशक्त उपकरण सिद्ध होता है। इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य वैश्वीकरण के संदर्भ में तुलनात्मक साहित्य की भूमिका और उसकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करना है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक साहित्य विभिन्न संस्कृतियों के बीच संवाद स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह 'अन्य' को समझने और स्वीकार करने की दृष्टि विकसित करता है, जिससे सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और वैश्विक मानवीय मूल्यों को बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक साहित्य सांस्कृतिक बहुलता और विविधता की स्वीकृति को प्रोत्साहित करता है। यह विभिन्न भाषाओं और साहित्यिक परंपराओं को समान महत्व प्रदान करता है, जिससे सांस्कृतिक लोकतंत्र की स्थापना में सहायता मिलती है।

मुख्य शब्द : *वैश्वीकरण, तुलनात्मक साहित्य, विश्व साहित्य, सांस्कृतिक संवाद, अनुवाद, बहुलता, पहचान, अंतरसांस्कृतिक अध्ययन, उत्तर-उपनिवेशवाद, वैश्विक चेतना।*

प्रस्तावना-

21वीं सदी का युग वैश्वीकरण का युग माना जाता है, जिसमें विश्व की भौगोलिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक सीमाएँ लगातार धुंधली होती जा रही हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी, संचार माध्यमों और पूँजी के वैश्विक प्रवाह ने समाजों को इस प्रकार जोड़ दिया है कि अब किसी भी क्षेत्र की घटनाएँ विश्व-स्तर पर प्रभाव उत्पन्न करती

[1] पी-एच.डी. शोधार्थी, हिंदी साहित्य विभाग, महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा.
मो.- 6289932838; ई-मेल.- prasadnaina99@gmail.com

हैं। इस परिवर्तनशील परिदृश्य में साहित्य भी अपने पारंपरिक सीमित दायरे से बाहर निकलकर एक वैश्विक विमर्श का हिस्सा बन चुका है। ऐसे में तुलनात्मक साहित्य का महत्व अत्यंत बढ़ जाता है, क्योंकि यह विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और साहित्यिक परंपराओं के बीच अंतर्संबंधों को समझने का एक सशक्त माध्यम प्रदान करता है। वैश्वीकरण केवल आर्थिक या तकनीकी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह सामाजिक और सांस्कृतिक संबंधों की भी गहन पुनर्रचना करता है। साहित्य, जो समाज का दर्पण माना जाता है, इस पुनर्रचना से अछूता नहीं रह सकता।

तुलनात्मक साहित्य इसी वैश्विक संदर्भ में एक महत्वपूर्ण अनुशासन के रूप में उभरता है। यह केवल विभिन्न साहित्यिक कृतियों की तुलना तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उन व्यापक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और वैचारिक प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है, जिनके अंतर्गत साहित्य का निर्माण होता है। रेने वेलेक और ऑस्टिन वॉरेन के अनुसार, “Comparative literature studies the interrelationships of literatures across national boundaries”[i] (Wellek & Warren, 2000, p. 47)। इस प्रकार तुलनात्मक साहित्य राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर साहित्य को एक व्यापक मानवीय अनुभव के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करता है।

वैश्वीकरण के प्रभाव से साहित्य की विषयवस्तु में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। आज के साहित्य में प्रवासन, विस्थापन, सांस्कृतिक पहचान, बहुसांस्कृतिकता और वैश्विक असमानता जैसे मुद्दे प्रमुखता से उभर रहे हैं। इन विषयों को समझने के लिए एक ऐसी दृष्टि की आवश्यकता होती है, जो विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों को एक साथ देखने में सक्षम हो और यह कार्य तुलनात्मक साहित्य के माध्यम से संभव होता है। सुसान बैसनट के अनुसार, “Comparative literature involves the study of texts across cultures and is interdisciplinary in its approach”[ii] (Bassnett, 1993, p. 7)। इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य न केवल साहित्यिक अध्ययन को व्यापक बनाता है, बल्कि उसे अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ भी जोड़ता है।

इसके अतिरिक्त, वैश्वीकरण ने ‘विश्व साहित्य’ की अवधारणा को भी पुनर्जीवित किया है। योहान वोल्फगांग गोएथे ने ‘वेल्टलिटरेटर’ की जो अवधारणा प्रस्तुत की थी, वह आज के वैश्विक संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक हो गई है। डेविड डैमरोश के अनुसार, “World literature is not an infinite, ungraspable canon of works but rather a mode of circulation and of reading”[iii] (Damrosch, 2003, p. 5)। इसका आशय यह है कि साहित्य अब केवल अपने मूल भाषाई और सांस्कृतिक संदर्भ में ही नहीं पढ़ा जाता, बल्कि वह विभिन्न संस्कृतियों के बीच संचरण के माध्यम से एक नई अर्थवत्ता प्राप्त करता है।

तुलनात्मक साहित्य इस संचरण प्रक्रिया को समझने और विश्लेषित करने का एक प्रभावी माध्यम है। अनुवाद, जो तुलनात्मक साहित्य का एक प्रमुख उपकरण है, इस प्रक्रिया में केंद्रीय भूमिका निभाता है। गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक का मानना है कि “translation is the most intimate act of reading”[iv] (Spivak, 1993, p. 180)। अनुवाद के माध्यम से न केवल साहित्यिक कृतियाँ एक भाषा से दूसरी भाषा में पहुँचती हैं,

बल्कि उनके साथ जुड़े सांस्कृतिक अर्थ भी स्थानांतरित होते हैं। हालाँकि, वैश्वीकरण के इस दौर में तुलनात्मक साहित्य के सामने कुछ चुनौतियाँ भी उपस्थित हैं। इनमें सबसे प्रमुख है, पश्चिमी साहित्य और सिद्धांतों का वर्चस्व। एडवर्ड सईद ने 'ओरिएंटलिज्म' में इस वर्चस्व की आलोचना करते हुए लिखा है कि "the Orient was almost a European invention"[v] (Said, 1978, p. 1)। यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है कि ज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में सत्ता-संबंध किस प्रकार कार्य करते हैं। तुलनात्मक साहित्य इन सत्ता-संबंधों का विश्लेषण करने और एक अधिक संतुलित तथा समावेशी दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास करता है।

भारतीय संदर्भ में भी तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारत एक बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक देश है, जहाँ विभिन्न भाषाओं और परंपराओं का सह-अस्तित्व देखने को मिलता है। नामवर सिंह के अनुसार, "साहित्य का अध्ययन केवल अपनी परंपरा तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे अन्य परंपराओं के साथ संवाद में रखा जाना चाहिए"[vi] (सिंह, 2001, पृ. 112)। इस प्रकार तुलनात्मक साहित्य भारतीय साहित्यिक परंपरा को वैश्विक संदर्भ में समझने का अवसर प्रदान करता है। वैश्वीकरण के दौर में तुलनात्मक साहित्य केवल एक अकादमिक अनुशासन नहीं, बल्कि एक बौद्धिक आवश्यकता बन चुका है। यह न केवल साहित्यिक अध्ययन को व्यापक और समृद्ध बनाता है, बल्कि वैश्विक स्तर पर सांस्कृतिक संवाद, सहिष्णुता और समझ को भी प्रोत्साहित करता है। विविधता से भरे इस विश्व में तुलनात्मक साहित्य एक ऐसे सेतु के रूप में कार्य करता है, जो विभिन्न संस्कृतियों और समाजों को जोड़कर एक साझा मानवीय अनुभव की स्थापना करता है।

तुलनात्मक साहित्य का सैद्धांतिक आधार-

तुलनात्मक साहित्य आधुनिक साहित्यिक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण और बहुआयामी अनुशासन है, जिसका मूल उद्देश्य विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और साहित्यिक परंपराओं के बीच अंतर्संबंधों का विश्लेषण करना है। यह केवल साहित्यिक कृतियों की सतही तुलना तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उनके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक और सामाजिक संदर्भों को भी समग्र रूप में समझने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य एक ऐसा सैद्धांतिक ढाँचा प्रस्तुत करता है, जो साहित्य को सीमाओं से मुक्त कर एक व्यापक मानवीय अनुभव के रूप में देखने की क्षमता प्रदान करता है। तुलनात्मक साहित्य का प्रारंभिक विकास 19वीं सदी में यूरोप में हुआ, जहाँ इसे मुख्यतः 'प्रभाव-अध्ययन' के रूप में देखा जाता था। इस काल में यह अध्ययन इस बात पर केंद्रित था कि एक देश या भाषा का साहित्य दूसरे देश के साहित्य को किस प्रकार प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी और जर्मन साहित्य के बीच पारस्परिक प्रभावों का अध्ययन तुलनात्मक साहित्य का प्रारंभिक स्वरूप था। किंतु यह दृष्टिकोण सीमित था, क्योंकि यह साहित्य को केवल एकतरफा प्रभावों तक ही सीमित कर देता था।

समय के साथ यह अनुशासन विकसित हुआ और इसमें 'समानता', 'समानांतरता' तथा 'विषयगत अध्ययन' जैसे नए आयाम जुड़े। 20वीं सदी में तुलनात्मक साहित्य ने एक व्यापक सैद्धांतिक स्वरूप ग्रहण किया, जिसमें साहित्य को केवल प्रभावों के संदर्भ में नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं और अंतःविषय

दृष्टिकोण से भी देखा जाने लगा। रेने वेलेक और ऑस्टिन वॉरेन ने तुलनात्मक साहित्य को एक सशक्त सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। उनके अनुसार: "Comparative literature is the study of literature beyond the confines of one particular country"[vii] (Wellek & Warren, 2000, p. 46)।

यह परिभाषा इस तथ्य को रेखांकित करती है कि तुलनात्मक साहित्य राष्ट्रीय सीमाओं से परे जाकर साहित्य को एक सार्वभौमिक मानवीय अनुभव के रूप में देखता है। यहाँ 'राष्ट्र' की सीमाएँ गौण हो जाती हैं और साहित्य का अध्ययन वैश्विक परिप्रेक्ष्य में किया जाता है। इसी क्रम में सुसान बैसनट ने तुलनात्मक साहित्य की अंतःविषय प्रकृति पर बल दिया है। वे लिखती हैं: "Comparative literature is an interdisciplinary field that examines relationships between literature and other areas of knowledge"[viii] (Bassnett, 1993, p. 6)।

बैसनट के इस कथन से स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक साहित्य केवल साहित्य तक सीमित नहीं है, बल्कि यह इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन और सांस्कृतिक अध्ययन जैसे अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के साथ भी गहरे संबंध स्थापित करता है। इस प्रकार यह अनुशासन एक अंतःविषय दृष्टिकोण को अपनाता है, जो वैश्वीकरण के जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों को समझने में सहायक होता है।

तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक आधार में 'विश्व साहित्य' की अवधारणा भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस अवधारणा का प्रारंभिक प्रतिपादन गोएथे ने किया था, जिन्होंने यह कहा कि साहित्य को राष्ट्रीय सीमाओं में बाँधकर नहीं देखा जाना चाहिए। जब कोई साहित्यिक कृति अपनी मूल भाषा और संस्कृति से बाहर निकलकर अन्य संस्कृतियों में पढ़ी और समझी जाती है, तब वह 'विश्व साहित्य' का हिस्सा बन जाती है। तुलनात्मक साहित्य इस प्रक्रिया का विश्लेषण करता है और यह समझने का प्रयास करता है कि विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में एक ही कृति के अर्थ कैसे बदलते हैं।

वैश्वीकरण के संदर्भ में तुलनात्मक साहित्य का सैद्धांतिक आधार और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। वैश्वीकरण ने विभिन्न संस्कृतियों के बीच संपर्क को बढ़ाया है, जिससे साहित्यिक आदान-प्रदान में भी वृद्धि हुई है। ऐसे में तुलनात्मक साहित्य इन आदान-प्रदानों का विश्लेषण करने और उन्हें समझने का एक सशक्त उपकरण बन जाता है। हालाँकि, तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक आधार के समक्ष कुछ चुनौतियाँ भी हैं। इनमें सबसे प्रमुख है पश्चिमी साहित्यिक सिद्धांतों का वर्चस्व। लंबे समय तक तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन यूरोपीय दृष्टिकोण से ही किया जाता रहा, जिससे अन्य संस्कृतियों के साहित्य को उचित स्थान नहीं मिल पाया। इस संदर्भ में उत्तर-उपनिवेशवादी आलोचना ने तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक ढाँचे को अधिक समावेशी बनाने का प्रयास किया है। तुलनात्मक साहित्य का सैद्धांतिक आधार बहुआयामी, अंतःविषय और गतिशील है। यह अनुशासन साहित्य को सीमाओं से परे ले जाकर उसे एक वैश्विक मानवीय अनुभव के रूप में स्थापित करता है। वैश्वीकरण के इस युग में, जब विभिन्न संस्कृतियाँ एक-दूसरे के संपर्क में हैं, तुलनात्मक साहित्य का यह सैद्धांतिक आधार न केवल प्रासंगिक है, बल्कि अत्यंत आवश्यक भी है।

विश्व साहित्य का सिद्धांत-

वैश्वीकरण के समकालीन युग में 'विश्व साहित्य' की अवधारणा तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक ढाँचे का एक केंद्रीय तत्व बन चुकी है। यह अवधारणा साहित्य को राष्ट्रीय सीमाओं से मुक्त कर एक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि प्रदान करती है। 'विश्व साहित्य' का अर्थ केवल विभिन्न देशों की महान कृतियों का संग्रह नहीं है, बल्कि यह उन प्रक्रियाओं, संबंधों और सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं का अध्ययन है, जिनके माध्यम से साहित्य वैश्विक स्तर पर संचरित और पुनर्पाठित होता है। गोएथे का मानना था कि आधुनिक युग में साहित्य को केवल राष्ट्रीय परंपराओं के भीतर सीमित करके नहीं समझा जा सकता। उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि विभिन्न देशों के साहित्य के बीच संवाद और आदान-प्रदान के माध्यम से एक वैश्विक साहित्यिक चेतना का निर्माण होता है। गोएथे के अनुसार, "National literature is now a rather unmeaning term; the epoch of world literature is at hand"[ix] (Goethe, 1827/1994, p. 223)। यह कथन इस बात की ओर संकेत करता है कि साहित्य का भविष्य वैश्विक अंतःक्रिया और बहुसांस्कृतिक संवाद में निहित है।

आधुनिक युग में डेविड डैमरोश ने 'विश्व साहित्य' की अवधारणा को नए सैद्धांतिक आयाम प्रदान किए हैं। उनके अनुसार: "World literature is not an infinite, ungraspable canon of works but rather a mode of circulation and of reading"[x] (Damrosch, 2003, p. 5)। डैमरोश का यह दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह 'विश्व साहित्य' को स्थिर ग्रंथ-संग्रह के रूप में नहीं, बल्कि एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखता है। उनके अनुसार कोई भी साहित्यिक कृति तब 'विश्व साहित्य' का हिस्सा बनती है, जब वह अपनी मूल सांस्कृतिक और भाषाई सीमाओं से बाहर निकलकर अन्य संस्कृतियों में पढ़ी और समझी जाती है। इस प्रकार 'विश्व साहित्य' एक प्रकार की 'सांस्कृतिक यात्रा' है, जिसमें कृतियाँ विभिन्न संदर्भों में नए अर्थ ग्रहण करती हैं। डैमरोश आगे यह भी स्पष्ट करते हैं कि विश्व साहित्य तीन स्तरों पर कार्य करता है- (i) कृतियों का वैश्विक संचरण, (ii) अनुवाद के माध्यम से उनका पुनर्पाठ, और (iii) विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में उनकी नई व्याख्या। इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य विश्व साहित्य के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण उपकरण बन जाता है, क्योंकि यह इन प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है।

वैश्वीकरण के संदर्भ में विश्व साहित्य की अवधारणा और भी अधिक प्रासंगिक हो जाती है। आज डिजिटल माध्यमों, अनुवाद और वैश्विक प्रकाशन उद्योग के माध्यम से साहित्य का संचरण अत्यंत तीव्र गति से हो रहा है। इससे विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य के बीच संवाद बढ़ा है, लेकिन साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि कौन-सी कृतियाँ वैश्विक स्तर पर प्रमुखता प्राप्त करती हैं और कौन-सी हाशिए पर चली जाती हैं। इस प्रकार, विश्व साहित्य का सिद्धांत तुलनात्मक साहित्य को एक व्यापक सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है, जिसके माध्यम से वैश्विक साहित्यिक प्रक्रियाओं का अध्ययन संभव होता है। यह सिद्धांत साहित्य को एक गतिशील, बहुसांस्कृतिक और अंतःक्रियात्मक प्रक्रिया के रूप में देखने की दृष्टि विकसित करता है। वैश्वीकरण के युग में 'विश्व साहित्य' की अवधारणा न केवल प्रासंगिक है, बल्कि अनिवार्य भी है। यह साहित्य को राष्ट्रीय सीमाओं से मुक्त कर एक वैश्विक मानवीय अनुभव के रूप में स्थापित करती है और तुलनात्मक साहित्य को एक सशक्त सैद्धांतिक आधार प्रदान करती है।

वैश्वीकरण का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य-

वैश्वीकरण समकालीन विश्व व्यवस्था की एक केंद्रीय अवधारणा है, जिसने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किए हैं। इसे केवल आर्थिक उदारीकरण, मुक्त बाजार या पूँजी के वैश्विक प्रवाह तक सीमित करके नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह एक ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है, जो मानव जीवन के लगभग प्रत्येक पहलू को प्रभावित करती है। विशेष रूप से साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में वैश्वीकरण ने नए अंतर्संबंधों, अंतःक्रियाओं और विमर्शों को जन्म दिया है। इसीलिए तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन में वैश्वीकरण के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

वैश्वीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए एंथनी गिडेन्स लिखते हैं: "Globalization refers to the intensification of worldwide social relations which link distant localities in such a way that local happenings are shaped by events occurring many miles away and vice versa"[xi] (Giddens, 1990, p. 64)। गिडेन्स का यह कथन वैश्वीकरण के उस मूल स्वरूप को रेखांकित करता है, जिसमें दूरस्थ स्थानों के बीच संबंध इतने गहरे हो जाते हैं कि एक स्थान की घटनाएँ दूसरे स्थान को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार, वैश्वीकरण 'स्थान' (space) और 'समय' (time) की पारंपरिक अवधारणाओं को पुनर्परिभाषित करता है। साहित्य के संदर्भ में इसका अर्थ यह है कि अब किसी विशेष क्षेत्र का साहित्य केवल उसी क्षेत्र तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह वैश्विक संदर्भों में भी पढ़ा और समझा जाता है।

वैश्वीकरण के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में डेविड हार्वे का 'time-space compression' का सिद्धांत भी महत्वपूर्ण है। हार्वे के अनुसार वैश्वीकरण के कारण समय और स्थान की दूरी सिकुड़ गई है, जिससे संचार और संपर्क की गति अत्यंत तीव्र हो गई है। इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है, क्योंकि अब साहित्यिक कृतियाँ शीघ्रता से वैश्विक स्तर पर पहुँच जाती हैं और विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों में पढ़ी जाती हैं। इसी प्रकार, रोलैंड रॉबर्टसन वैश्वीकरण को की अवधारणा के माध्यम से समझाते हैं, जिसमें वैश्विक और स्थानीय तत्वों का समन्वय होता है। यह सिद्धांत इस बात को रेखांकित करता है कि वैश्वीकरण केवल वैश्विक संस्कृति के प्रसार का नाम नहीं है, बल्कि यह स्थानीय संस्कृतियों के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भी है। साहित्य में यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ स्थानीय अनुभव वैश्विक संदर्भों में अभिव्यक्त होते हैं। वैश्वीकरण के सांस्कृतिक प्रभावों का विश्लेषण करते हुए स्टुअर्ट हॉल यह मानते हैं कि वैश्वीकरण सांस्कृतिक पहचान को स्थिर नहीं रहने देता, बल्कि उसे निरंतर परिवर्तनशील बनाता है। उनके अनुसार: "Globalization has a decentring effect on national cultures and identities"[xii] (Hall, 1997, p. 27)।

यह दृष्टिकोण बताता है कि वैश्वीकरण के प्रभाव से राष्ट्रीय पहचान कमजोर होती है और बहुसांस्कृतिक पहचान का विकास होता है। साहित्य इस परिवर्तनशील पहचान को अभिव्यक्त करने का एक प्रमुख माध्यम बनता है। तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में वैश्वीकरण का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य विशेष महत्व रखता है, क्योंकि यह साहित्यिक कृतियों के निर्माण, प्रसार और ग्रहण की प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है। वैश्वीकरण के कारण-

- साहित्य का वैश्विक प्रसार बढ़ा है,
- अनुवाद की भूमिका महत्वपूर्ण हुई है,
- विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य के बीच संवाद सशक्त हुआ है।

हालाँकि, वैश्वीकरण के सकारात्मक प्रभावों के साथ-साथ कुछ चुनौतियाँ भी हैं। इनमें सांस्कृतिक समरूपीकरण पश्चिमी वर्चस्व और बाजारवाद का प्रभाव प्रमुख हैं। जॉन टॉमलिनसन के अनुसार, वैश्वीकरण सांस्कृतिक विविधता को कम करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकता है। इस संदर्भ में तुलनात्मक साहित्य का कार्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि यह विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य को समान महत्व देकर सांस्कृतिक संतुलन बनाए रखने का प्रयास करता है। वैश्वीकरण का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य अत्यंत जटिल और बहुआयामी है। यह केवल आर्थिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और वैचारिक अंतःक्रियाओं का एक व्यापक तंत्र है। साहित्य इस तंत्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो वैश्वीकरण के प्रभावों को अभिव्यक्त और विश्लेषित करता है।

अनुवाद सिद्धांत-

तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक ढाँचे में अनुवाद का स्थान अत्यंत केंद्रीय और अनिवार्य है। विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और साहित्यिक परंपराओं के बीच संवाद स्थापित करने का सबसे प्रभावी माध्यम अनुवाद ही है। यदि अनुवाद न हो, तो तुलनात्मक साहित्य का अस्तित्व लगभग असंभव हो जाता है, क्योंकि विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्यिक कृतियों तक पहुँच और उनका तुलनात्मक विश्लेषण तभी संभव है, जब वे एक साझा भाषिक माध्यम में उपलब्ध हों। इस प्रकार अनुवाद केवल एक तकनीकी प्रक्रिया नहीं, बल्कि सांस्कृतिक सेतु के रूप में कार्य करता है। अनुवाद के महत्व को रेखांकित करते हुए गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक कहती हैं: “Translation is the most intimate act of reading”[xiii] (Spivak, 1993, p. 180)। स्पिवाक का यह कथन अनुवाद की गहनता और संवेदनशीलता को स्पष्ट करता है। उनके अनुसार अनुवाद केवल शब्दों का स्थानांतरण नहीं है, बल्कि यह मूल पाठ के भाव, सांस्कृतिक संदर्भ और अंतर्निहित अर्थों को समझने और पुनः अभिव्यक्त करने की एक सृजनात्मक प्रक्रिया है।

Domestication (स्थानीयकरण) में अनुवादक मूल पाठ को इस प्रकार परिवर्तित करता है कि वह लक्ष्य भाषा और संस्कृति के अनुरूप हो जाए। इससे पाठक को पाठ को समझने में सुविधा होती है, लेकिन मूल पाठ की सांस्कृतिक विशिष्टता कम हो सकती है। इसके विपरीत, **Foreignization (विदेशीकरण)** में अनुवादक मूल पाठ की सांस्कृतिक विशिष्टता को बनाए रखने का प्रयास करता है, भले ही इससे पाठक को कुछ कठिनाई हो। यह दृष्टिकोण पाठक को ‘अन्य’ संस्कृति से परिचित कराता है और सांस्कृतिक विविधता को संरक्षित करता है।

तुलनात्मक साहित्य के संदर्भ में यह बहस अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह इस प्रश्न को उठाती है कि साहित्यिक कृतियों को किस हद तक ‘स्थानीय’ बनाया जाए और किस हद तक उनकी ‘विदेशी’ पहचान को बनाए रखा जाए। अनुवाद सिद्धांत का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष ‘अर्थ के पुनर्निर्माण’ से जुड़ा है। जब कोई

साहित्यिक कृति एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित होती है, तो वह केवल अपने शब्दों को नहीं, बल्कि अपने सांस्कृतिक और वैचारिक अर्थों को भी स्थानांतरित करती है। इस प्रक्रिया में अक्सर अर्थों का परिवर्तन या विस्तार होता है। वैश्वीकरण के दौर में अनुवाद की भूमिका और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। आज साहित्यिक कृतियाँ तेजी से विभिन्न भाषाओं में अनूदित हो रही हैं और वैश्विक पाठकों तक पहुँच रही हैं। इससे एक ओर जहाँ सांस्कृतिक संवाद को बढ़ावा मिला है, वहीं दूसरी ओर कुछ चुनौतियाँ भी सामने आई हैं।

तुलनात्मक साहित्य के लिए अनुवाद सिद्धांत एक ऐसा उपकरण प्रदान करता है, जिसके माध्यम से वह विभिन्न भाषाओं के साहित्य के बीच संबंधों को समझ सकता है। यह सिद्धांत यह भी स्पष्ट करता है कि साहित्यिक कृतियाँ एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में जाते समय कैसे बदलती हैं और नए अर्थ ग्रहण करती हैं। इस प्रकार, अनुवाद केवल भाषा का परिवर्तन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद, अर्थ-निर्माण और साहित्यिक पुनर्सृजन की एक जटिल प्रक्रिया है। अनुवाद सिद्धांत तुलनात्मक साहित्य के सैद्धांतिक ढाँचे का एक अनिवार्य अंग है। यह विभिन्न संस्कृतियों के बीच संवाद स्थापित करने के साथ-साथ साहित्यिक कृतियों के वैश्विक प्रसार और उनकी बहुआयामी व्याख्या को संभव बनाता है। वैश्वीकरण के इस युग में, जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ निरंतर संपर्क में हैं, अनुवाद सिद्धांत तुलनात्मक साहित्य को एक सशक्त और प्रासंगिक दिशा प्रदान करता है।

समकालीन प्रासंगिकता-

वर्तमान समय वैश्वीकरण का समय है, जिसमें विश्व के विभिन्न राष्ट्र आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और बौद्धिक स्तर पर एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी, संचार क्रांति और वैश्विक बाजार व्यवस्था ने भौगोलिक सीमाओं को लगभग अप्रासंगिक बना दिया है। इस परिवर्तित वैश्विक परिदृश्य में साहित्य की प्रकृति, स्वरूप और दृष्टिकोण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अब साहित्य केवल स्थानीय अनुभवों तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि वह वैश्विक अनुभवों, बहुसांस्कृतिक संवादों और अंतर्सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करने लगा है। ऐसे में तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता अत्यंत बढ़ जाती है। तुलनात्मक साहित्य एक ऐसा अनुशासन है, जो विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और साहित्यिक परंपराओं के बीच संबंधों का अध्ययन करता है। यह केवल समानताओं और भिन्नताओं की पहचान तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह भी समझने का प्रयास करता है कि विभिन्न सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों में साहित्य किस प्रकार निर्मित और ग्रहण किया जाता है। इस दृष्टि से तुलनात्मक साहित्य वैश्वीकरण के दौर में उत्पन्न जटिलताओं को समझने का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन जाता है।

वैश्वीकरण ने 'विश्व साहित्य' की अवधारणा को भी सशक्त किया है। अब साहित्य को केवल राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर पढ़ा और समझा जाता है। विभिन्न भाषाओं की कृतियाँ अनुवाद के माध्यम से विश्व के पाठकों तक पहुँच रही हैं। इस संदर्भ में तुलनात्मक साहित्य की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि यह इन कृतियों के बीच संबंधों को स्थापित करता है और उनके अंतर्सांस्कृतिक अर्थों को स्पष्ट करता है। तुलनात्मक साहित्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह 'सांस्कृतिक संवाद' को बढ़ावा देता है। वैश्वीकरण के दौर में विभिन्न संस्कृतियों के बीच संपर्क और अंतःक्रिया बढ़ी है, जिससे सांस्कृतिक आदान-

प्रदान के नए अवसर उत्पन्न हुए हैं। तुलनात्मक साहित्य इस संवाद को व्यवस्थित और अर्थपूर्ण बनाता है। यह 'अन्य' को समझने और स्वीकार करने की दृष्टि विकसित करता है, जिससे सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और वैश्विक मानवीय मूल्यों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक साहित्य 'विविधता और बहुलता' को भी प्रोत्साहित करता है। वैश्वीकरण के प्रभाव से जहाँ एक ओर सांस्कृतिक समरूपीकरण का खतरा उत्पन्न हुआ है, वहीं दूसरी ओर तुलनात्मक साहित्य विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं को उजागर करके इस खतरे का प्रतिरोध करता है। यह अनुशासन यह दिखाता है कि प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान और मूल्य होते हैं, जिन्हें संरक्षित और सम्मानित किया जाना चाहिए।

तुलनात्मक साहित्य का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू 'सत्ता-संबंधों का विश्लेषण' है। वैश्वीकरण के दौर में कुछ संस्कृतियाँ और भाषाएँ अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं, जबकि अन्य हाशिए पर चली जाती हैं। तुलनात्मक साहित्य इन असमानताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करता है और यह समझने का प्रयास करता है कि साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सत्ता-संबंध किस प्रकार कार्य करते हैं। इस संदर्भ में उत्तर-उपनिवेशवादी दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो उपनिवेशवाद के प्रभावों और उसके बाद उत्पन्न सांस्कृतिक असंतुलनों को उजागर करता है। अनुवाद तुलनात्मक साहित्य का एक केंद्रीय तत्व है। अनुवाद के बिना विभिन्न भाषाओं के साहित्य के बीच संवाद संभव नहीं है। वैश्वीकरण के युग में अनुवाद की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो गई है, क्योंकि यह साहित्य को वैश्विक स्तर पर पहुँचाने का माध्यम बन गया है। अनुवाद के माध्यम से एक भाषा की कृति दूसरी भाषा और संस्कृति में प्रवेश करती है और वहाँ नए अर्थ ग्रहण करती है। इस प्रकार, अनुवाद न केवल भाषा का परिवर्तन है, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्सृजन की प्रक्रिया भी है।

इसके साथ ही, तुलनात्मक साहित्य अंतःविषय दृष्टिकोण को भी अपनाता है। यह साहित्य को इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान और सांस्कृतिक अध्ययन के साथ जोड़कर देखता है। वैश्वीकरण के जटिल स्वरूप को समझने के लिए यह अंतःविषय दृष्टिकोण अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वैश्वीकरण केवल आर्थिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक घटना है। हालाँकि, तुलनात्मक साहित्य के समक्ष कुछ चुनौतियाँ भी हैं। इनमें सबसे प्रमुख है—पश्चिमी साहित्य और सिद्धांतों का वर्चस्व, जिसके कारण अन्य संस्कृतियों के साहित्य को अपेक्षित महत्व नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त, अनुवाद की सीमाएँ भी एक महत्वपूर्ण समस्या हैं, क्योंकि अनुवाद में मूल पाठ के अर्थ और सांस्कृतिक संदर्भों का पूर्णतः संरक्षण संभव नहीं होता। बाजारवाद और उपभोक्तावाद का प्रभाव भी साहित्य को प्रभावित करता है, जिससे साहित्यिक मूल्य कभी-कभी व्यावसायिक हितों के अधीन हो जाते हैं। इन चुनौतियों के बावजूद, तुलनात्मक साहित्य की प्रासंगिकता कम नहीं होती, बल्कि और अधिक बढ़ जाती है। यह अनुशासन वैश्वीकरण के दौर में सांस्कृतिक संतुलन बनाए रखने, विविधता को संरक्षित करने और विभिन्न संस्कृतियों के बीच सार्थक संवाद स्थापित करने का कार्य करता है।

वैश्वीकरण के इस जटिल और गतिशील युग में तुलनात्मक साहित्य न केवल प्रासंगिक है, बल्कि अनिवार्य भी है। यह हमें यह समझने में सहायता करता है कि विभिन्न संस्कृतियाँ किस प्रकार एक-दूसरे के

संपर्क में आकर नए अर्थों और अनुभवों का निर्माण करती हैं। साथ ही, यह विविधता में एकता, सह-अस्तित्व और वैश्विक मानवीय मूल्यों को सुदृढ़ करने का कार्य करता है। इस प्रकार, तुलनात्मक साहित्य वैश्वीकरण की जटिलताओं को समझने और उनका आलोचनात्मक विश्लेषण करने का एक सशक्त माध्यम है।

निष्कर्ष-

उपरोक्त सभी सैद्धांतिक प्रतिमानों यथा तुलनात्मक साहित्य के मूल सिद्धांत, विश्व साहित्य की अवधारणा, वैश्वीकरण का सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य, अनुवाद सिद्धांत के समेकित अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि तुलनात्मक साहित्य का सैद्धांतिक ढाँचा अत्यंत व्यापक, बहुआयामी और गतिशील है। यह अनुशासन केवल साहित्यिक कृतियों की सतही तुलना तक सीमित नहीं है, बल्कि यह वैश्विक स्तर पर घटित हो रही सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक प्रक्रियाओं को समझने का एक सशक्त उपकरण है। तुलनात्मक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सीमाओं का अतिक्रमण करता है। यह दृष्टिकोण इस बात को पुष्ट करता है कि तुलनात्मक साहित्य राष्ट्रीय सीमाओं से परे जाकर साहित्य को एक वैश्विक मानवीय अनुभव के रूप में देखने की क्षमता प्रदान करता है। वैश्वीकरण के इस युग में, जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ निरंतर संपर्क और अंतःक्रिया में हैं, यह दृष्टिकोण और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है।

वैश्वीकरण के प्रभाव से साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। तुलनात्मक साहित्य इस प्रक्रिया का विश्लेषण करके यह समझने का प्रयास करता है कि साहित्यिक कृतियाँ वैश्विक स्तर पर कैसे संचरित होती हैं और उनका अर्थ कैसे परिवर्तित होता है। वैश्वीकरण के संदर्भ में तुलनात्मक साहित्य की एक प्रमुख भूमिका ‘सांस्कृतिक संवाद’ को सशक्त करना है। विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन यह सुनिश्चित करता है कि विविध संस्कृतियाँ एक-दूसरे के संपर्क में आएँ और परस्पर समझ विकसित हो। इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक साहित्य ‘विविधता और बहुलता’ को बढ़ावा देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

वैश्वीकरण के दौर में जहाँ सांस्कृतिक समरूपीकरण का खतरा बढ़ रहा है, वहाँ तुलनात्मक साहित्य विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं को उजागर करके इस खतरे का प्रतिरोध करता है। यह अनुशासन यह दिखाता है कि विभिन्न समाजों के साहित्य में किस प्रकार अलग-अलग अनुभव, दृष्टिकोण और मूल्य निहित होते हैं। तुलनात्मक साहित्य उत्तर-उपनिवेशवादी दृष्टिकोण के माध्यम से इन सत्ता-संबंधों का विश्लेषण करता है और यह दिखाता है कि कैसे कुछ संस्कृतियाँ प्रभुत्वशाली बन जाती हैं, जबकि अन्य हाशिए पर चली जाती हैं। तुलनात्मक साहित्य इस संघर्ष को साहित्यिक कृतियों के माध्यम से समझने का प्रयास करता है। तुलनात्मक साहित्य अनुवाद के माध्यम से विभिन्न संस्कृतियों के साहित्य को एक-दूसरे के निकट लाता है और उनके बीच संवाद स्थापित करता है। तुलनात्मक साहित्य इस परिवर्तनशील पहचान को समझने का एक प्रभावी माध्यम बनता है, क्योंकि यह विभिन्न संस्कृतियों और समाजों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करता है। तुलनात्मक साहित्य का सैद्धांतिक ढाँचा वैश्वीकरण की जटिलताओं को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। तुलनात्मक साहित्य न केवल साहित्यिक अध्ययन का एक क्षेत्र है, बल्कि यह एक व्यापक वैचारिक दृष्टिकोण है, जो हमें यह समझने में सहायता करता है कि वैश्वीकरण के इस जटिल युग में साहित्य और संस्कृति किस

प्रकार कार्य कर रहे हैं। यह अनुशासन वैश्विक और स्थानीय के बीच संतुलन स्थापित करने, सांस्कृतिक विविधता को संरक्षित करने और मानवीय अनुभवों को व्यापक संदर्भ में समझने की दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

संदर्भ सूची-

- Bassnett, S. (1993). *Comparative Literature*. Blackwell.
- Bhabha, H.K. (1994). *The Location of Culture*. Routledge.
- Casanova, P. (2004). *The World Republic of Letters*. Harvard University Press.
- Damrosch, D. (2003). *What is World Literature?* Princeton University Press.
- Giddens, A. (1990). *The Consequences of Modernity*. Stanford University Press.
- Hall, S. (1997). *Representation: Cultural Representations and Signifying Practices*. Sage Publications.
- Said, E.W. (1978). *Orientalism*. Pantheon Books.
- Spivak, G.C. (1993). *Outside in the Teaching Machine*. Routledge.
- Wellek, R., & Warren, A. (2000). *Theory of Literature*. Harcourt Brace.
- सिंह, नामवर. (2002). *इतिहास और आलोचना*. राजकमल प्रकाशन.
- शर्मा, रामविलास. (1998). *साहित्य और समाज*. वाणी प्रकाशन.
- दुबे, श्यामाचरण. (2001). *भारतीय समाज*. राष्ट्रीय प्रकाशन संस्थान.
- नगेन्द्र. (2005). *तुलनात्मक साहित्य*. साहित्य अकादमी.

[i] Wellek, R., & Warren, A. (2000). *Theory of Literature*. Harcourt. p. 47

[ii] Bassnett, S. (1993). *Comparative Literature*. Blackwell. p. 7

[iii] Damrosch, D. (2003). *What is World Literature?* Princeton University Press. p. 5

[iv] Spivak, G.C. (1993). *Outside in the Teaching Machine*. Routledge. p. 180

[v] Said, E. (1978). *Orientalism*. Pantheon Books. p. 1

[vi] सिंह, नामवर. (2001). *दूसरी परंपरा की खोज*. राजकमल प्रकाशन. पृ. 112

[vii] Wellek, R., & Warren, A. (2000). *Theory of Literature*. Harcourt. p. 46

[viii] Bassnett, S. (1993). *Comparative Literature*. Blackwell. p. 6

[ix] Goethe, J.W. (1994). *Conversations with Eckermann* (1827). p. 223

[x] Damrosch, D. (2003). *What is World Literature?* Princeton University Press. pp. 5, 289

[xi] Giddens, A. (1990). *The Consequences of Modernity*. Stanford University Press. p. 64

[xii] Hall, S. (1997). "The Local and the Global." In *Culture, Globalization and the World-System*. p. 27

[xiii] Spivak, G.C. (1993). *Outside in the Teaching Machine*. Routledge. pp. 180–181

Manuscript Timeline
Submitted : *January 17, 2026* **Accepted :** *January 30, 2026* **Published :** *March 30, 2026*

मणिपुरी कथावाचन परंपरा में 'रामायण कथा'

डॉ. सिनाम तोन्दोन सिंह[1]
मयाङ्लम्बम सदानंद सिंह[2]

सारांश

मणिपुर की कथा-वाचन परंपरा में रामायण की कथा केवल ग्रंथों तक सीमित न रहकर एक जीवंत प्रदर्शन-कला के रूप में विकसित हुई है। यहाँ के कथावाचक कलाकारों ने मूल रामायण, विशेषतः कृत्तिवासी रामायण को आधार बनाया और उसके साथ स्थानीय सांस्कृतिक संदर्भों, लोकविश्वासों और अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का समन्वय किया। मैतै समाज में इस कथा-वाचन कला के दो रूप विकसित हुए, एक- लाईरिक थीबा-हायबा और दूसरा- वारी लीबा।

कथावाचन की प्रक्रिया एक अलग विधि-विधान के अनुसार संपन्न होने वाला अनुष्ठान है। इसमें कथावाचक के बैठने के आसन को 'व्यास आसन' कहा जाता है। कथावाचक के बाईं ओर 'वैष्णव आसन' की स्थापना की जाती है। लोकविश्वास है कि हनुमान स्वयं कथा-श्रवण के लिए उपस्थित होकर इस आसन पर विराजमान होते हैं। मणिपुरी रामायण कथावाचन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय लोककथाओं और सांस्कृतिक तत्वों का व्यापक समावेश मिलता है। 'हनुमान द्वारा मणिपुर में पर्वत लेने आने का प्रसंग', 'भौमा-भौमी, शौबो-शौबोरी पर राम द्वारा कृपा किए जाने की कथा', 'चंद्रजिनी' की कथा से संबंधित प्रसंग आदि इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त, कथावाचक लोकोक्तियों, मुहावरों तथा प्रसिद्ध विद्वानों और आचार्यों की शिक्षाप्रद उक्तियों का प्रयोग करते हैं, जिससे कथा केवल मनोरंजन का माध्यम न रह कर नैतिक शिक्षा और जीवन-दर्शन का भी स्रोत बन जाती है। रावण-हनुमान संवाद, रावण-अंगद संवाद तथा अन्य प्रसंगों में इनका समावेश श्रोताओं को गहरे स्तर पर प्रभावित करता है। मणिपुर की पारंपरिक धार्मिक प्रथाएँ, जैसे कुराक लमदाईबा की प्रथा आदि, भी प्रसंगानुकूल इस कथावाचन परंपरा से जुड़ गई हैं। कहा जा सकता है कि मणिपुरी रामायण कथावाचन की परंपरा एक समन्वित सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसमें शास्त्रीय ग्रंथ, लोकपरंपरा, धार्मिक आस्था और कलात्मक अभिव्यक्ति का अद्भुत संगम देखने को मिलता है।

बीज-शब्द *: कथा-वाचन परंपरा, मैतै समाज, लाईरिक थीबा-हायबा, वारी लीबा, व्यास आसन, वैष्णव आसन, कृत्तिवासी रामायण, पयार छंद, धार्मिक आस्था, कुराक लमदाइबा।*

[1]असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, धनमंजुरी विश्वविद्यालय, मणिपुर. E-mail: sinamtondon81@gmail.com
[2]असिस्टेंट प्रोफेसर, मणिपुरी विभाग, धनमंजुरी विश्वविद्यालय, मणिपुर. E-mail: sadafolk@gmail.com

रामायण महाकाव्य की रचना कब हुई थी, इस संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद पाया जाता है। तथापि, वाल्मीकि रामायण के अनुसार, इस महाकाव्य की रचना प्रभु श्रीराम के अयोध्या-शासनकाल में हुई मानी जाती है। यह केवल इतिहास या जीवनी नहीं है, वरन् हिंदू पौराणिक परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस महाकाव्य की कथा चार युगों- सत्, त्रेता, द्वापर और कलि युग में से द्वितीय, अर्थात त्रेता युग के अंतिम चरण में घटित मानी जाती है। सतयुग की अवधि 17,28,000 वर्ष मानी जाती है, त्रेतायुग की अवधि 12,96,000 वर्ष, द्वापर युग की अवधि 8,64,000 वर्ष तथा कलियुग की अवधि 4,32,000 वर्ष निर्धारित की गई है। मान्यता है कि कलियुग का प्रारंभ ईसा पूर्व 3102 में, 13 फरवरी को हुआ था। इस दृष्टि से गणना करने पर कलियुग के आरंभ से अब तक लगभग 5,100 से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इसी आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण कथा का लेखन आज से लगभग 8,69,121 वर्ष पूर्व हुआ होगा। किंतु अनेक विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनके अनुसार, इस महाकाव्य में चित्रित पात्रों के रूप-विन्यास तथा इसमें प्रयुक्त भाषा-शैली को देखते हुए इसका रचना-काल लगभग ईसा पूर्व 200 वर्ष से लेकर ईसा के 200 वर्ष बाद के बीच माना जाता है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस महाकाव्य के अंत में सीता को वन में छोड़ने तथा धरती माता द्वारा उन्हें अपने में समा लेने की कथा बाद में जोड़ी गई है। इस प्रसंग में B.A. Van Nooten द्वारा William Buck के रामायण की भूमिका में व्यक्त विचारों को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है:

> "Roughly, and mainly by virtue of external and linguistic evidence, we accept a period of a few hundred years between 200 B.C. and A. D. 200 as a likely date for its composition. It probably grew fairly gradually, with the beginning and the end of the story being added on at the end of that period. So, the story of Sita's second rejection by Rama as well as the incident of her being swallowed up by the earth are later additions".[i] (Buck, 2000: XV)

विश्व साहित्य में अत्यंत प्रशंसित भारत के दो महाकाव्यों- रामायण और महाभारत के संबंध में यह मत भी प्रचलित है कि लिखित रूप में आने से पहले ये लंबे समय तक मौखिक परंपरा में कथन- गायन के रूप में प्रचलित रहे होंगे। अनेक लोकसाहित्यविदों ने Oral- Formulaic Theory की दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन करने के बाद इन दोनों महाकाव्यों में निहित मौखिकता के तत्वों के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में अमेरिकी लोकसाहित्यविद John Brockington का विचार उल्लेखनीय है:

> "The Sanskrit epics, the Mahabharata and the Ramayana, together represent the culmination of a lengthy tradition of oral poetry transmitted through recitation by sutras or bards."[ii]

उपर्युक्त तथ्य लोकसाहित्य की समीक्षात्मक पद्धति की दृष्टि से दोनों महाकाव्यों के पाठ का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात प्राप्त हुआ माना जाता है। हिंदू समाज के प्राचीन समय से चले आते विश्वास को आधार बनाकर अध्ययन करने पर भी यह संभावना प्रकट होती है कि रामायण की कथा मौखिक परंपरा में कथा-गायन

के रूप में प्रचलित रही होगी। हिंदू परंपरा में यह विश्वास किया जाता है कि मानव जीवन के समस्त नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का संचय वेद और पुराणों में निहित है। प्राचीन काल में ये ग्रंथ लिखित रूप में नहीं थे, बल्कि मौखिक परंपरा के अंतर्गत कथा-गायन के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित होते रहे। ऐसी मान्यता भी है कि प्रारंभ में वेद एक ही था और उस समय मनुष्य की बुद्धि अत्यंत प्रखर होने के कारण उसे पढ़ने-लिखने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। आध्यात्मिक गुरु द्वारा प्रदत्त समस्त ज्ञान को शिष्य सहज रूप से ग्रहण कर लेते थे। किंतु लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व, कलियुग में मनुष्यों की स्मरण-शक्ति और बौद्धिक क्षमता में होने वाली कमी को ध्यान में रखते हुए व्यासदेव ने वेदों को लिखित रूप में संकलित कर सुरक्षित किया। इस संदर्भ में स्वामी प्रभुपाद के विचार द्रष्टव्य हैं:

> Originally there was only one Veda, and there was no necessity of reading it. People were so intelligent and had such sharp memories that by once hearing from the lips of the spiritual master they would understand. They would immediately grasp the whole purport. But five thousand years ago, Vyas deva put the Vedas in writing for the people in this age, Kali- yuga.[iii] (Prabhupada, 2000: 9)

वेदों के ज्ञान को 'शब्द- प्रमाण' कहा जाता है। इसका दूसरा नाम श्रुति भी है। 'श्रुति' का अर्थ है- "सुना हुआ", अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसे कानों से सुनकर ग्रहण किया जाए। वेदों में यह भी कहा गया है कि इस ज्ञान को उसके वास्तविक स्रोतों, जैसे ऋषियों, आचार्यों या गुरुओं आदि से सुनकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक और बौद्धिक ज्ञान के भंडार माने जाने वाले वेद और पुराण लोगों द्वारा सुनकर और कंठस्थ करके मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते आए हैं।

वाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर अनेक कवियों ने संस्कृत भाषा में रामायण के विभिन्न रूपों की रचना की है। इनमें विशेष रूप से भुशुण्डि रामायण, अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण आदि उल्लेखनीय हैं। मैतै समुदाय में प्रचलित कथा-वाचन की परंपरा में भी रामकथा के कुछ विशिष्ट रूप मिलते हैं। यहाँ के कथा-वाचकों के अनुसार, महादेव द्वारा दुर्गा को रामायण की कथा सुनाए जाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार की कथात्मक परंपरा का स्रोत और प्रभाव विशेष रूप से अध्यात्म रामायण से संबंधित माना जा सकता है।

संस्कृत भाषा के अतिरिक्त भारत की विभिन्न भाषाओं में भी अनेक कवियों द्वारा रामायण की रचना की गई है। बारहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि से प्रसिद्ध तमिल कवि 'कंबन' ने तमिल भाषा में रामायण की रचना की, जो उनके नाम पर "कंबन रामायण" के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी में बांग्ला भाषा में 'कृत्तिवासी रामायण' तथा सोलहवीं शताब्दी में कवि तुलसीदास ने हिंदी में 'श्रीरामचरितमानस' की रचना की। इसके अतिरिक्त, इस महाकाव्य की कथा बहुत पहले से ही दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में प्रसारित होती रही है। इस प्रकार रामकथा का प्रसार क्रमशः मंगोलिया, जापान तथा

फिलीपींस आदि देशों तक भी पहुँचा, जहाँ इसके स्थानीय रूप भी विकसित हुए। इन देशों में जब रामायण की कथा का कथा-वाचन तथा लेखन किया गया, तब वहाँ की सामाजिक जीवन-पद्धति, रीति-रिवाज, लोककथाएँ, लोकोक्तियाँ, मुहावरे और स्थानीय सांस्कृतिक प्रसंगों को भी कथा में अनुकूल रूप से समाहित कर लिया गया। परिणामस्वरूप, वाल्मीकि रामायण में वर्णित राम और सीता के कथानक तथा उनके चरित्र-निर्माण में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण थाईलैंड की रामायण परंपरा में मिलता है। परंपरागत कथा-क्रम में नए प्रसंगों अथवा कथाओं को जोड़कर उसे अधिक विस्तृत और पूर्ण बनाना लोक-महाकाव्यों की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती है। इसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में थाईलैंड के राजा राम प्रथम (अठारहवीं शताब्दी के अंत में थाईलैंड के राजा राम प्रथम थे, जिनका पूरा नाम पुत्थयोत्फा चुलालोक था। राजा राम प्रथम के बाद चक्री वंश के अन्य राजाओं ने भी 'राम' की उपाधि अपनाई। स्मरणीय है कि वहाँ के ही राजा वजीरालोंगकोर्न राम दशम द्वारा रामायण के थाई संस्करण 'रामकियन' को लिखवाया गया। रामकियन थाईलैंड का राष्ट्रीय महाकाव्य भी है। इस ग्रंथ में सीता के पृथ्वी के गर्भ से पुनः प्रकट होकर राम की पत्नी के रूप में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का उल्लेख मिलता है। इस संदर्भ में Mythology of the World नामक ग्रंथ में प्राप्त यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है:

> In Thailand, they have their own version of the Ramayana called the Ramakein composed in the late 1700's by King Ram I (1782: 1809). The Rameikein has become the national epic of Thailand. This version has a happy ending, for Nang Seeda (Sita) reappears from under the earth once more to be the wife of Phra Ram.[iv] (2004: 78)

सन् 1709 से 1748 ई तक मणिपुर पर शासन करने वाले महाराज गरीबनिवाज ने श्रीहट्ट जिले . से मणिपुर आए शांतिदास के निर्देशन में रामानंदी धर्म में दीक्षा ग्रहण की। इसके पश्चात (वर्तमान सिलहट) मणिपुरी भाषा में सबसे पहले रामायण लिखी गई। रामभक्ति से प्रेरित इस राजा ने सर्वप्रथम कृत्तिवास रामायण से 'वीरबाहु वध' नामक अंश का मुरारी और गोपी नामक विद्वानों से मैतैलोन में (मणिपुरी भाषा) अनुवाद करवाया। इसके बाद महाराज ने अपने प्रिय सेवक क्षेमासिंह तरेत सेलुङ्बा को कृत्तिवास द्वारा रचित सप्तकांड रामायण का मणिपुरी भाषा में अनुवाद करने का आदेश दिया। क्षेमासिंह तरेत सेलुङ्बा के नेतृत्व में छह विद्वानों- प्रमानंद नोङयाई, खुमन्थेम्बा, मूकुंदराम ख्वाइसना, लक्ष्मीनारायण इरोइबा, रामचरण नोङ्थोनबा तथा लक्ष्मीनारायण शाइखूबा ने मिलकर मैतैलोन में रूपांतरण का कार्य किया गया।[v] (गौराचंद्र,1991:4) यह रूपांतरण प्राचीन मणिपुरी भाषा में लिखा गया था। बाद के समय में आधुनिक मणिपुरी साहित्य के विकास के साथ अनेक कवियों द्वारा रामायण के विभिन्न रूपों की रचना भी देखने को मिलती है।

रामायण की कथा अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग लोक-परंपराओं के अंतर्गत अनेक प्रदर्शनात्मक माध्यमों के द्वारा एक पीढ़ी-से-दूसरी-पीढ़ी तक हस्तांतरित होती हुई मौखिक रूप में कही और सुनी जाती रही है। नेपाल में धामारी, नचारी, सोरठी तथा बालून; गुजरात में भिल्ली रामायण; गढ़वाल क्षेत्र में

रामभारता; तथा मणिपुर में वारी लीबा, लाइरिक थीबा-हायबा और खोङ्जोम पर्व जैसी प्रदर्शन कलाओं (Performing Arts) के माध्यम से यह स्पष्ट है कि रामायण की कथा अलग-अलग लोक-प्रदर्शन परंपराओं में समाहित होकर आज भी जीवित है। मणिपुर में एक समय *पेना*-वादकों (पेना मणिपुर का पारंपरिक वाद्य-यंत्र है) द्वारा पेना वादन शैली में भी रामायण की कथा का गान किया जाता था, किंतु वर्तमान समय में यह परंपरा लगभग लुप्त होती हुई दिखाई देती है।

मणिपुर में 'राजर्षि' उपाधि से विभूषित महाराज भाग्यचंद्र के शासनकाल (सन् 1763-1798) में गौड़ीय वैष्णव धर्म का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। इस काल में नवधा-भक्ति के अंतर्गत विशेष रूप से 'श्रवणम् और कीर्तनम्' (श्रीहरि का नाम श्रवण और गायन) को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा। परिणामस्वरूप, इसी समय लाइरिक थीबा-हायबा तथा वारी लीबा जैसी कथावाचन कलाओं का विकास हुआ। साथ ही, मैतै समाज के विभिन्न क्षेत्रों में रामायण की कथा सुनने और सुनाने की परंपरा धीरे-धीरे व्यापक रूप से विकसित होने लगी।

भाग्यचंद्र महाराज के पूर्व गरीबनिवाज़ के शासनकाल (सन् 1709-1748) में रामायण और पुराणों का मणिपुरी भाषा में अनुवाद कर उन्हें श्रवण करने की परंपरा का उल्लेख मिलता है। इसी शासक ने रामानंदी धर्म को राज्यधर्म के रूप में स्थापित करने की प्रक्रिया में सनाकैथेल (वर्तमान ख्वाईरंबन बाजार) नामक स्थान से विशाल पत्थर को मोङ्बहनबा (वर्तमान महाबली, जहाँ हनुमानजी का मंदिर है) नामक स्थान पर ले जाकर वहाँ हनुमान की मूर्ति की स्थापना कर उसकी पूजा आरंभ करवाई। इस घटना का उल्लेख मणिपुर के राजकीय इतिहास ग्रंथ '*चैथारोल कुंबाबा'* में इस प्रकार प्राप्त होता है:

"16 नि लंगमाइचिंगदा स्ना कैथेन्दा युङ्बा नूङ्बु हनुमानगी मूर्ति शानबा मोंगबहनबा तान्ना चिंगशिनए।"[vi]

महाबली हनुमान ठाकुर की मूर्ति की स्थापना के पश्चात वहाँ नियमित रूप से पूजा-अर्चना का क्रम आरंभ हुआ। इस पूजा-परंपरा के साथ ही ब्राह्मणों द्वारा मंदिर में सेवा करते हुए पयार छंद में रचित रामायण और पुराणों का *मैतैलोन* (मणिपुरी भाषा) में अर्थ समझाते हुए ब्राह्मण-वैष्णवों तथा उच्च पदस्थ व्यक्तियों को सुनाने की परंपरा भी प्रारंभ हुई। इस संदर्भ में अरिबम चित्रेश्वर शर्मा ने अपनी पुस्तक '*मैतै वारी लिबगी इतिहासता तंफाजाओ शर्मा'* में उल्लेख किया है कि "सन् 1709 से 1748 ई. के मध्य मैदिङ्ङू (महाराज) पामहैबा के शासनकाल में महाबली हनुमान ठाकुर के मंदिर में पयार ग्रंथ से मैतैलोन भाषा में अर्थ स्पष्ट करते हुए रामायण की कथा सुनाई जाती थी...।"[vii] (शर्मा,1991: 39)

इसी काल से संबंधित एक लोकविश्वास भी प्रचलित है। कहा जाता है कि जब लंबे समय तक रामायण की कथा का वाचन किया जाता था, तब हनुमान स्वयं एक वृद्ध के रूप में प्रतिदिन कथा-श्रवण के लिए वहाँ उपस्थित होते थे। यह कथा आज भी लोककथाओं के रूप में लोगों के बीच सुनाई जाती है। लोकमान्यताओं के अनुसार, एक दिन महाराज के पुत्र श्यामजाइ खुराईलाकपा ने यह जानने के उद्देश्य से उस वृद्ध व्यक्ति का पीछा किया कि वह वास्तव में कौन है। तब उस व्यक्ति ने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया और हनुमान के रूप में दर्शन दिए। कहा जाता है कि उन्होंने श्यामजाइ खुराईलाकपा को अष्टसिद्धियों में से तीन सिद्धियाँ-

पानी में डूबकर चलना, आकाश में उड़ सकना तथा अग्नि में सुरक्षित रहना-प्रदान कीं। इस प्रकार की लोकमान्यता से संबंधित यह कथा आज भी मणिपुर के लोगों के बीच प्रचलित है और प्राय: सुनाई जाती है।

गरीबनिवाज़ के शासनकाल में रामानंदी धर्म के प्रचार-प्रसार का आंदोलन तीव्र गति से चल रहा था। इसी समय राजपरिवार, उच्च पदस्थ व्यक्तियों तथा वैष्णव समुदाय के बीच रामायण की कथा के श्रवण की परंपरा का आरंभ भी हुआ, लेकिन उस काल में रामायण-कथा के वाचन और श्रवण की परंपरा पूरी तरह विकसित नहीं हो पाई। इस परंपरा के फलने-फूलने का वास्तविक काल भाग्यचंद्र महाराज का शासन काल है। उस काल में इस कथात्मक कला के दो रूपों-लाईरिक थीबा-हायबा तथा वारी लीबा (कथा-वाचन) का उल्लेखनीय विकास हुआ। इसी काल में मैतै समाज की सांस्कृतिक चेतना और वैष्णव धर्म की मान्यताओं के आधार पर रामायण के नए रूपों का निर्माण भी आरंभ हुआ। बाहरी क्षेत्रों से आई रामायण-कथा जब मणिपुर की सांस्कृतिक भूमि में विकसित हुई, तब उसमें मैतै समाज की जीवन-शैली, व्यवहार-पद्धति, भाषिक अभिव्यक्ति, विचारधारा तथा लोकविश्वासों का समावेश हो गया। परिणामस्वरूप, मणिपुर की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान से युक्त रामायण-परंपरा का निर्माण हुआ। इन समस्त तत्वों का समन्वित रूप आज भी मणिपुर के रामायण-कथावाचकों की प्रस्तुति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

'लाईरिक थीबा-हायबा' कला-रूप परंपरा में लाईरिक-थीबा का अर्थ है- 'कथा को गेय शैली में प्रस्तुत करना।' इस परंपरा में कथावाचक कृत्तिवास कवि द्वारा पयार छंद में रचित रामायण (जिसे कृत्तिवास/कृत्तिवासी रामायण के नाम से ख्याति प्राप्त हुई) की कथा को गाकर प्रस्तुत करता है। इसके पश्चात लाईरिक हायबा, अर्थात अर्थ-वाचक, उस गाए गए अंश का मैतैलोन (मणिपुरी भाषा) में अर्थ स्पष्ट करते हुए श्रोताओं को समझाता है। इस प्रकार लाईरिक थीबा-हायबा शैली में कलाकारों या कथावाचकों को मूल कथा से बाहर जाकर स्थानीय तत्वों के आधार पर नई कथा-रचना करने का अवसर अपेक्षाकृत कम ही मिलता है। यहाँ मुख्य उद्देश्य ग्रंथ में कवि द्वारा लिखित कथा को भाषा के आरोह-अवरोह, स्वर, ताल और लय के माध्यम से प्रस्तुत कर श्रोताओं को रसात्मक अनुभूति प्रदान करना होता है।

वारी लीबा अर्थात कथा-वाचन, लाईरिक थीबा-हायबा की भाँति किसी विशिष्ट ग्रंथ के पाठ से पूर्णतः बँधी हुई नहीं होती। यद्यपि इस कला रूप परंपरा में भी कथा का मूल आधार कृत्तिवासी रामायण ही रहता है, किंतु श्रोताओं को आनंद प्रदान करने तथा रामकथा को मणिपुरी संस्कृति से जोड़ने के उद्देश्य से कथावाचक स्थानीय लोकोक्तियों, मुहावरों, कहावतों तथा प्रसिद्ध विद्वानों के कथनों को प्रसंगानुसार जोड़ते हुए कथा को अधिक रोचक और प्रासंगिक बनाने का प्रयास करते हैं। इसके अतिरिक्त, रामायण और पुराण-कथाओं से अलग स्थानीय लोककथाओं, किंवदंतियों तथा इस क्षेत्र में हिंदू धर्म के प्रसार में प्रभावी व्यक्तियों से संबंधित कथाओं, हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्तियों द्वारा निर्मित कथाओं, तथा अनुभवी और कथावाचन में परांगत कथावाचकों द्वारा कल्पित अनेक कथाओं को प्रसंगानुकूल रूप से कथा में समाहित कर महाकाव्य की कथा का विस्तार किया जाता है। इससे रामायण का प्रस्तुतीकरण और अधिक प्रभावपूर्ण, रोचक तथा सांस्कृतिक

रूप से समृद्ध बन जाता है। रामायण के पात्रों में यहाँ के लोगों की सोच, दृष्टि और गुणों को समाहित करते हुए मणिपुर की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप राम, सीता और हनुमान के विशिष्ट चरित्रों का निर्माण हुआ है। कहा जा सकता है कि मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही यह लोक-जीवन की कला परंपरा, लिखित रूप में सुरक्षित रहने के बाद, पुनः मौखिक परंपरा में लौट कर जीवित रहने का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

रामायण की कथा का कथावाचन करते समय कथावाचक श्वेत अथवा किसी स्वच्छ रंग का वस्त्र बिछाई गई एक चटाई पर विराजमान होता है। इस चटाई को परंपरागत रूप से 'व्यास आसन' कहा जाता है। व्यास आसन पर कथावाचक की सुविधा के लिए एक *मोंदुम,* अर्थात तकिया, भी रखा जाता है। व्यास आसन से कुछ आगे रामायण ग्रंथ को एक *लाईरिक फान,* अर्थात पुस्तक रखने के लिए लकड़ी से निर्मित आसन अथवा स्टैंड, के ऊपर स्थापित कर उसकी विधिवत पूजा की जाती है। लाईरिक फान के बाईं ओर केले के पत्ते अथवा श्वेत वस्त्र से निर्मित एक छोटा आसन रखा जाता है, जिसे 'वैष्णव आसन' कहा जाता है। लोकविश्वास है कि इस आसन पर रामभक्त हनुमान अदृश्य रूप से उपस्थित होकर रामायण की कथा का श्रवण करते हैं। कथावाचक गुरुओं द्वारा संपन्न रामायण-वाचन का आधार मुख्यतः कृत्तिवासी रामायण होने के कारण वाचन का प्रारंभ सर्वप्रथम उसी ग्रंथ के मंगलाचरण- 'राम लक्ष्मण पूर्वजंग रघुबरंग ऐतपतिंग सुन्दरंग' को मणिपुरी शैली में उच्चरित करके किया जाता है। इसके पश्चात गुरु-वंदना, सभा-वंदना आदि का पाठ कर कथावाचन की मुख्य प्रक्रिया आरंभ होती है।

कथावाचकों द्वारा यह कहा जाता है कि रामायण की रचना श्रीराम के जन्म से लगभग साठ हजार वर्ष पूर्व महर्षि वाल्मीकि द्वारा की गई थी। इस वाचन का आधार कृत्तिवासी रामायण के आदि कांड में वर्णित एक प्रसंग को माना जाता है। इस प्रसंग में महादेव द्वारा ब्रह्मा और नारद से कहा गया है- "सेइ रूप काले हईबे प्रकाश।। जे रूपे आछेन हरि गोलक भीतर।। जन्मनिते आछे षठि हाजार बत्सर।।" इस कथन के आधार पर यह समझा जाता है कि गोलोक में स्थित नारायण के दिव्य स्वरूप के पृथ्वी पर प्रकट होने में अभी साठ हजार वर्ष शेष हैं। कथा के अनुसार, जब नारायण ने अपने एकाकार स्वरूप से चार अंशों का निर्माण किया, तब उसे देखकर ब्रह्मा और नारद ने महादेव से इसका कारण पूछा। इस पर शिव ने बताया कि गोलोक में विद्यमान उस दिव्य रूप के पृथ्वी पर प्रकट होने में अभी साठ हजार वर्ष शेष हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि त्रेता युग में अवतीर्ण होने वाली हरि की लीला को लिखित रूप में स्थापित करने के लिए रत्नाकर को राम-नाम का मंत्र देकर उसके पापों का प्रक्षालन कराया जाएगा।

इसके पश्चात ब्रह्मा और नारद पृथ्वी पर आकर रत्नाकर को राम-नाम का मंत्र प्रदान करते हैं। किंतु रत्नाकर ने मंत्र प्राप्त करते ही तत्काल रामायण की रचना नहीं की। उसने दीर्घकाल तक राम-नाम का जाप करते हुए कठोर तपस्या की। कहा जाता है कि उसने इस प्रकार साठ हजार वर्षों तक तप किया। कृत्तिवासी रामायण के चौथे पृष्ठ पर यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित है- "दिया ब्रह्म गेल रत्नाकर। सेइ नाम जपे षठी हाजार बत्सरे।।"[viii] इसके उपरांत ब्रह्मा और नारद पुनः उसके पास आए। तब तक रत्नाकर के शरीर को दीमकों (वल्मीक) ने ढक

लिया था। उनके द्वारा उसे पुनः जागृत कर 'वाल्मीकि' नाम दिया गया और रामायण की रचना करने का निर्देश दिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शिव द्वारा कही गई पंक्ति 'जन्मनिते आछे षठि हाजार बत्सर' के आधार पर कथावाचक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राम के जन्म से साठ हजार वर्ष पूर्व ही रामायण की रचना की गई थी। वस्तुतः यह प्रसंग रत्नाकर द्वारा राम-नाम का साठ हजार वर्ष तक जाप करने से संबंधित है। संभवतः इस प्रसंग के पूर्ण अध्ययन के अभाव के कारण कथावाचकों के बीच यह धारणा बन गई। फिर भी, मणिपुरी रामायण परंपरा का एक अभिन्न अंग बन जाने के कारण यह विश्वास आज भी कथावाचकों और श्रोताओं- दोनों के बीच प्रचलित है।

कथावाचक कलाकारों द्वारा प्रस्तुत रामायण की कथा का वाचन केवल कवि द्वारा लिखित मूल कथा को बिना किसी परिवर्तन के श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करना मात्र नहीं होता। वे ग्रंथों में वर्णित कथा को आधार बनाते हुए अपनी विशिष्ट प्रतिभा, अभिव्यक्ति-कौशल तथा कलात्मकता का उपयोग करते हुए स्थानीय सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप लोकोक्तियों, मुहावरों तथा रामायण और पुराण में उल्लिखित कथाओं के अतिरिक्त अन्य विविध प्रचलित प्रसंगों को प्रसंगानुकूल जोड़ते हुए महाकाव्य को सरस, प्रभावपूर्ण तथा श्रोताओं के लिए सहज बोधगम्य बनाते हैं। कथावाचकों द्वारा प्रयुक्त लोकोक्ति और मुहावरों में से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. *सनाना शक फजै नापल कारुबा नुङ्थङ् चाय,*
   चूना अमृत थोकइ मङक हायगत्लुबा कोलहुना तकखाइ,
   तेनवाना मीओइबना तम्बीबा मीरोल ङाङ्बा ङम्मी पोङ्जरुबा मपुन्सी चुप्पा पोंदा लै।।
   (भावार्थ: स्वर्ण अपनी सुंदरता पर अभिमान करता है, तो उसे हथौड़े की कठोर मार सहनी पड़ती है। गन्ना अपने अमृतमय रस पर गर्व करता है, तो वह कोल्हू में पिसता है। तोता मनुष्य से सीखे हुए वचन पर इतराता है, तो जीवन भर पिंजरे की कैद में बंद रह जाता है।।)

2. *ओइरोइदबा लौबूक्ता ओइनम पाम्बी थाबा, मनाना फौरामूक पाकइ।*
   (भावार्थ: मिथ्या के खेत में मिथ्या के पेड़ लगाना, जिसके पत्ते फौड़े [एक बड़ी, उथली और गोल टोकरी, जिसका उपयोग धान को धूप में सुखाने के लिए किया जाता है; एक समय में यह मणिपुर के अधिकांश घरों में रखी जाती थी] के समान बड़े दिखाई देते हैं।)

3. *उहै यामना पानबा पाम्बीदी मरु लुकई।*
   (भावार्थ: जिस पेड़ पर अधिक फल लगते हैं, वह उतना ही अधिक झुक जाता है।)

4. *थन्दबा चफुदी मखोल थोकई।*
   (भावार्थ: अधजल गगरी छलकत जाए।)

उपर्युक्त लोकोक्तियों का कथावाचकों द्वारा रामायण के कथावाचन में किस प्रकार और कैसे प्रयोग किया जाता है, इसका एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

रामायण के सुंदरकांड के अंतर्गत एक महत्वपूर्ण प्रसंग मिलता है, जिसमें मेघनाद इंद्रजीत द्वारा हनुमान को बंदी बनाकर लंका के दरबार में उपस्थित किया जाता है। वहाँ रावण और हनुमान के मध्य तर्क-वितर्क होता है। इस प्रसंग में हनुमान रावण को संबोधित करते हुए कहते हैं- "हे रावण! प्रभु राम समस्त जगत के स्वामी हैं; अतः तुम माता सीता को पालकी में बैठाकर श्रीराम को समर्पित कर दो, अन्यथा लंका का विनाश निश्चित है।" हनुमान के इन वचनों को सुनकर रावण जोर- जोर से अट्टहास करता हुआ उत्तर देता है- "हे वानर! स्वर्ण अपनी सुंदरता पर अभिमान करता है, इसलिए उसे हथौड़े की कठोर चोट सहनी पड़ती है। गन्ना अपने अमृतमय रस पर गर्व करता है, इसलिए वह कोल्हू में कुचला जाता है। इसी प्रकार तोता मनुष्य से सीखे हुए वचनों पर इतराता है, इसलिए वह जीवनभर पिंजरे में कैद रहता है। हे तुच्छ वानर! आज तुम अपने स्वामी राम द्वारा सिखाई गई बातों को दोहराकर मेरा अपमान कर रहे हो। क्या तुम भी उस तोते के समान ही दुर्दशा प्राप्त करना चाहते हो?"

इस प्रकार कथावाचक कलाकार प्रसंगानुकूल अनेक सुंदर लोकोक्तियों का प्रयोग करते हुए न केवल श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हैं, बल्कि कथा में एक नया रस भी उत्पन्न करते हैं, जिससे यह महाकाव्य लोगों के बीच और अधिक आकर्षण का केंद्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त, वे प्रसिद्ध विद्वानों और आचार्यों द्वारा कही गई शिक्षाप्रद उक्तियों तथा उपदेशात्मक प्रसंगों को भी अवसर और प्रसंग के अनुसार कथा में जोड़ते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है- रामायण के प्रसंग में अंगद, जो बाली का पुत्र है, राम का दूत बनकर रावण के दरबार में संदेशवाहक के रूप में उपस्थित होता है। वहाँ अंगद और रावण के मध्य तर्क-वितर्क होता है। इस दौरान रावण अंगद से कहता है- "हे अंगद! क्या तुम राम के लिए अपने प्राण और धन-संपत्ति की परवाह किए बिना युद्ध करने आए हो? क्या तुम्हें मृत्यु से भय नहीं लगता? क्या तुम्हें अपने प्राण प्रिय नहीं हैं? तुम्हारे विषय में सोचकर मुझे लज्जा आती है। तुम लौट जाओ और किष्किन्धा में राज्य-सुख का उपभोग करते हुए सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो।"

इस प्रसंग के संदर्भ में कथावाचक कलाकार चाणक्य द्वारा कही गई एक उक्ति का उल्लेख करते हुए अंगद के माध्यम से इस प्रकार उत्तर दिलाते हैं- "हे रावण! तुम कहते हो कि मुझे मृत्यु से भय नहीं लगता और मुझे अपने प्राण प्रिय नहीं हैं, परंतु मुझे मारना तुम्हारे वश की बात नहीं है। मैं उस महान बाली का पुत्र हूँ, जिसने तुम्हें पराजित किया था। और, यदि युद्ध-भूमि में मुझे मृत्यु भी प्राप्त हो जाए, तो वह श्रीराम के लिए होगी, जो मेरे लिए अत्यंत सौभाग्य की बात मानी जाएगी।" जगत में यह सूक्ति प्रसिद्ध है-

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति।।

"बुद्धिमान व्यक्ति दूसरों के हित के लिए निश्चित रूप से नष्ट होने वाली धन-संपत्ति तथा प्राणों का त्याग करने में संकोच नहीं करता। यदि किसी पुण्य-कार्य के लिए धन और प्राणों के त्याग का अवसर प्राप्त हो जाए, तो वह जन्म सफल है; अन्यथा ऐसा जीवन व्यर्थ है।"

इस प्रकार की अनेक लोकोक्तियों तथा शिक्षाप्रद उपदेशों का विभिन्न प्रसंगों में उपयुक्त रूप से प्रयोग करते हुए कथा को श्रोताओं के समक्ष प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाले कलाकार को कथा-वाचन में पारंगत माना जाता है। ऐसे कथावाचक अपनी विशिष्ट शैली, ज्ञान और प्रस्तुति-कौशल के कारण लोगों के अत्यंत प्रिय बन जाते हैं तथा श्रोता उन्हें बार-बार जगह-जगह कथा-वाचन के लिए आमंत्रित करते हैं।

कथावाचकों द्वारा रामायण के मूल पाठ के अतिरिक्त अन्य पुराणों तथा हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्तियों द्वारा रचित कथाओं को भी प्रसंगानुकूल कथा-वाचन में सम्मिलित किया जाता है। इसके साथ ही, कई बार कलाकार अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर निर्मित विविध प्रसंगों और कथाओं को भी इस महाकाव्य के विभिन्न प्रसंगों के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। इन अतिरिक्त कथाओं के समावेश से कथा के मूल स्वरूप में कोई असंगति नहीं आती, बल्कि ये प्रसंगानुकूल होकर श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने तथा कथा को अधिक रोचक और प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। कथावाचकों द्वारा रामायण की कथा में प्रसंगानुकूल जोड़ी गई कथाओं में 'हनुमान द्वारा मणिपुर में पर्वत लेने आने का प्रसंग', 'भौमा-भौमी, शौबो-शौबोरी पर राम द्वारा कृपा करने की कथा', तथा 'चंद्रजिनी' की कथा से संबंधित प्रसंग आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन कथाओं को रामायण के किस कांड अथवा प्रसंग के साथ जोड़कर कथावाचन में प्रस्तुत किया जाता है, इसका उल्लेख करते हुए इन कथाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

हनुमान द्वारा मणिपुर में पर्वत लेने आने का प्रसंग

माता सीता के उद्धार के लिए राम की सेना द्वारा समुद्र पर बड़े-बड़े शिलाखंडों, पर्वतों तथा विशाल वृक्षों को समुद्र में डाल कर सेतु का निर्माण किया जा रहा था। धीरे-धीरे आसपास के सभी पर्वत इस कार्य में प्रयुक्त हो गए और निकटवर्ती क्षेत्र में कोई भी उपयुक्त पर्वत शेष नहीं रहा। ऐसी स्थिति में हनुमान मणिपुर में पर्वत लेने के लिए पहुँचे और यहाँ के प्रमुख बड़े पर्वत- नोङमाइजीङ्, थांगजिङ् और कौब्रु को एक-एक कर उखाड़ने का प्रयास करने लगे। तब इन पर्वतों ने क्रमशः मानव रूप धारण कर हनुमान के समक्ष प्रकट होकर निवेदन किया- "हे रामभक्त! यह स्थान भविष्य में कलियुग में आपके स्वामी श्रीहरि का पवित्र धाम बनने वाला है। उस समय हमें श्रीहरि की सेवा करनी है, इसलिए कृपया हमें यहाँ से उखाड़ें नहीं।" यह निवेदन सुनकर हनुमान ने पर्वतों को उखाड़ने का विचार त्याग दिया। उसी समय हनुमान ने कहा- "जब यह प्रदेश भविष्य में मेरे प्रभु श्रीहरि का पवित्र धाम बनेगा, तो मैं भी यहाँ अपना एक स्थान निर्धारित करता हूँ।" ऐसा कहते हुए उन्होंने महाबली नामक स्थान को वर्तमान में (जहाँ हनुमान ठाकुर का मंदिर स्थित है) अपने निवास स्थल के रूप में निश्चित किया।

यह प्रसंग मूल रामायण कथा में नहीं मिलता, बल्कि कथावाचकों द्वारा रामायण के प्रसंगों के साथ स्थानीय रंग और सांस्कृतिक संदर्भ जोड़ने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जाता है। एक समय मणिपुर समाज में हिंदू धर्म के प्रति गहरी आस्था के कारण इस कथा को यहाँ वास्तव में घटित घटना के रूप में भी माना जाता था।

साथ ही, इस प्रकार की कथाओं ने रामायण की कथा और मणिपुर समाज के बीच एक गहरा संबंध स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भौमा- भौमी, शौबो-शौबोरी पर राम द्वारा कृपा करने की कथा

रामायण के सुंदरकांड के अंतर्गत समुद्र में सेतु- निर्माण हेतु लाए गए पर्वतों को श्रीराम की सेना द्वारा तोड़कर सेतु का निर्माण किया जा रहा था। इसी क्रम में एक पर्वत को तोड़ते समय उसके भीतर से भौमा, भौमी, शौबो तथा शौबोरी नामक चार जीव प्रकट हुए। जब श्रीराम ने उनसे परिचय पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया- "हम चारों सेवक, जब महादेव द्वारा कृषि-कार्य किया जा रहा था, उसी कृषि की रक्षा के लिए माता भगवती दुर्गा द्वारा सृजित किए गए थे। शिव तथा माता दुर्गा द्वारा धान की कटाई के पश्चात हमें इस पर्वत के भीतर इस आशीर्वाद के साथ स्थापित कर दिया गया था कि जब तक हम यहाँ रहेंगे, तब तक हमें अन्न-जल की कोई कमी नहीं होगी।" तत्पश्चात प्रभु रामचंद्र ने उनसे पूछा कि अब वे क्या चाहते हैं। तब उन चारों जीवों ने प्रभु से अपने जीवन-निर्वाह के लिए अन्न की व्यवस्था करने की प्रार्थना की। इस पर रघुनाथ ने आशीर्वाद देते हुए कहा- "प्रति वर्ष *कुराक लमदाईबा* के अवसर पर लोगों द्वारा अर्पित किए जाने वाले अन्न और अन्य सामग्री से तुम लोगों के वर्ष भर के भरण-पोषण की व्यवस्था होती रहेगी। इसके बदले में तुम लोग उस वर्ष फसलों की, उन्हें लगने वाली विविध प्रकार की बीमारियों से, रक्षा करोगे।"

कुराक लमदाईबा मणिपुर की एक पारंपरिक आनुष्ठानिक प्रथा है। इस अनुष्ठान के अंतर्गत उस वर्ष पशु- पक्षियों, फसलों तथा मनुष्यों में उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की बीमारियों और आपदाओं से संरक्षण हेतु स्थानीय देवी-देवताओं से प्रार्थना की जाती है। यह अनुष्ठान मणिपुर में हिंदू धर्म के आगमन से बहुत पहले से ही प्रचलित रहा है। यह परंपरागत रूप से *इंङा* (आषाढ़) महीने में संपन्न किया जाता है। मणिपुर में हिंदू धर्म के स्थापित होने के पश्चात रामायण की कथा-वाचन परंपरा के विकसित होने के साथ, कुराक लमदाईबा अनुष्ठान का संबंध रामायण महाकाव्य के प्रसंगों से भी जोड़ा जाने लगा।

'चंद्रजिनी' की कथा

मैतै हिंदू कथावाचकों द्वारा रामायण कथा के अंतर्गत एक शाखा के रूप में प्रस्तुत 'चंद्रजिनी की कथा' श्रोताओं के बीच विशेष लोकप्रियता प्राप्त है। यह कथा मुख्यतः लंका-कांड के प्रसंग में, अंगद द्वारा रावण के दरबार में संदेशवाहक के रूप में उपस्थित होने के प्रसंग से संबद्ध मानी जाती है। कथावाचक इस कथा को लंका के सेनापति परहस्त द्वारा अंगद को सुनाई गई कथा के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

चंद्रजिनी की कथा बंगदेश के राजा बीरध्वज के पुत्र युवराज वीरसिंह और चंपकदेश के राजा चंद्रभान की पुत्री राजकुमारी चंद्रजिनी के प्रेम पर आधारित एक प्रेम-कथा है। कथा के अनुसार, पूर्व जन्म में उनका मिलन संभव नहीं हो सका था। पूर्व-जन्म के प्रण को निभाते हुए वीरसिंह तब तक मौन-व्रत धारण कर प्रतीक्षा करता है, जब तक उसका मिलन चंद्रजिनी से नहीं हो जाता; वहीं चंद्रजिनी भी पुरुषों के प्रति विरक्ति का व्रत लेकर वीरसिंह की प्रतीक्षा करती है। इस कथा में धिमान मंत्री के पुत्र तथा वीरसिंह के मित्र धृतबुद्धि की बुद्धिमत्ता और

सूझबूझ कथा में जान डालती है। वह अपनी बुद्धिमत्ता से अनेक संकटों का समाधान करता है और अंततः वीरसिंह तथा चंद्रजिनी के मिलन को संभव बनाकर कथा को सुखांत रूप प्रदान करता है।

मणिपुरी रामायण परंपरा में इस कथा को किसने समाहित किया था, इस संबंध में कथावाचकों का मत है कि महाराज चुराचाँद सिंह (सन् 1892-1941) के समय कथावाचन कला में प्रसिद्ध क्षेत्रिमयुम तोनसना सिंह (जिन्हें लोगों के बीच 'क्षेत्री तोनसना' नाम से जाना जाता है) ने लंका-कांड के अंतर्गत चंद्रजिनी की कथा को जोड़कर वाचन की परंपरा का आरंभ किया था। इसी कारण कुछ लोग इस कथा को 'क्षेत्री तोनसना की कथा' के नाम से भी जानते हैं।

निष्कर्ष-

अनेक श्रद्धेय कथावाचकों के योगदान तथा अथक परिश्रम से निर्मित मणिपुरी रामायण कथावाचन परंपरा आज मणिपुरी समाज में निष्क्रिय होती जा रही है। इसके प्रमुख कारणों में इस महाकाव्य को आधार देने वाली कथावाचन कला का मणिपुरी समाज में दिन-प्रतिदिन घटना प्रमुख है। दूसरी ओर, आज के समय में इस कला को पसंद करने वाले तथा इससे प्रेम रखने वाले लोगों द्वारा रामायण की अपेक्षा महाभारत की कथा को अधिक रुचि के साथ श्रवण करना भी एक महत्वपूर्ण कारण है। कथावाचक जब दोनों महाकाव्यों का वाचन करते हैं, तब वे प्रायः रामायण की अपेक्षा महाभारत के कथावाचन में अधिक निपुणता और प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। यदि किसी कथावाचक के वास्तविक गुणों को परखना हो, तो उससे रामायण की कथा का वाचन करवाना चाहिए। महाभारत में चित्रित चरित्र और घटनाएँ आज के समय के अधिक निकट तथा जीवन-शैली के अनुरूप प्रतीत होती हैं, इसलिए कथावाचक को उसकी प्रस्तुति में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है।

इसके विपरीत, रामायण की कथा महाभारत की तुलना में वर्तमान समय से कुछ दूरी लिए प्रतीत होती है। इस कारण, यदि रामायण का कथावाचन इस कला में पारंगत प्रतिभायुक्त कलाकार द्वारा न किया जाए, तो उसे समकालीन संदर्भों के अनुरूप प्रस्तुत करना कठिन हो जाता है। आज के नवोदित कथावाचकों में रामायण के प्रभावी वाचन में पारंगत कलाकारों की कमी के चलते लोग महाभारत की कथा को अधिक प्रिय मानने लगे हैं। श्रद्धेय गुरुओं द्वारा मैतै समाज के भाव, सोच-विचार तथा जीवन-शैली के अनेक रूपों से गढ़े गए इस महाकाव्य के पूर्ण स्वरूप को प्रस्तुत करना हो, तो परफॉर्मेंस और कॉन्टेक्स्चुअल स्टडीज़ को आधार बनाकर टेक्स्ट, टेक्सचर और कॉन्टेक्स्ट इन तीनों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है। यदि इस प्रकार का समग्र अध्ययन किया जाए, तो यह विश्वास किया जा सकता है कि मणिपुर के सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन के लिए विविध प्रकार की विपुल महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

संदर्भ-

- कृत्तिबास, महानूभव. (1920). *सप्त कांड रामायण* (बंग्ला). श्रीबिनोदबिहारी शील कत्तृक प्रकाशित.
- गौरचंद्र, मयाङ्लंबम. (1991). *अरिबा मैतैलोलगी रामायण*. पिपल्स म्यूजियम.

- शर्मा, चित्रेश्वर. (1991). *मैतै वारी लीबगी इतिहासता तंफाजाओ शर्मा*. इंफाल
- सिंह, एल. इबुङ्ङोहल., एवं सिंह, एन. खेलचन्द्र. (संपा.). (2005). *चैथारोल कुम्बाबा* (तीसरा संस्करण). मणिपुरी साहित्य परिषद.
- Apte, V.S. (1965). *The practical Sanskrit English dictionary*. Motilal Banarsidas.
- Brockington, J. (1998). Formulaic expression in the Ramayana : Evidence for oral composition. In L. Honko, J. Handoo, & J. M. Foley (Eds.), *The epic: Oral and written*. CIIL.
- Buck, W. (2000). *Ramayana*. Motilal Banarsidass.
- Philip, N. (2004). *Mythology of the world*. Kingfisher Publication.
- Prabhupada, A.C. Bhaktivedanta Swami. (2000). *Sri Isopanisad*. The Bhaktivedanta Book Trust.
- Ravishangkar, Sri Sri. (2002). *Time*. Vyakte Vikas Kendra, Indian Publication Division.

साक्षात्कार :

1. अरिबम जुगेश्वर शर्मा, मोइदाङ्पोक (कथावाचक)
2. येङ्खोम याइमा सिंह, खुराइ (कथावाचक)

---

[i] Buck, W. (2000). *Ramayana*. Motilal Banarsidass.

[ii] Brockington, J. (1998). Formulaic expression in the Ramayana: Evidence for oral composition. In L. Honko, J. Handoo, & J. M. Foley (Eds.), *The epic: Oral and written*. CIIL.

[iii] Prabhupada, A. C. Bhaktivedanta Swami. (2000). *Sri Isopanisad*. The Bhaktivedanta Book Trust.

[iv] Philip, N. (2004). *Mythology of the world*. Kingfisher Publication.

[v] गौरचंद्र, मयाङ्लंबम. (1991). *अरिबा मैतैलोलगी रामायण*. पिपल्स म्यूजियम.

[vi] कृत्तिबास, महानूभव. (1920). *सप्त कांड रामायण* (बंग्ला). श्रीबिनोदबिहारी शील कत्तृक प्रकाशित.

[vii] शर्मा, चित्रेश्वर. (1991). *मैतै वारी लीबगी इतिहासता तंफाजाओ शर्मा*. इंफाल

[viii]कृत्तिबास, महानूभव. (1920). *सप्त कांड रामायण* (बंग्ला). श्रीबिनोदबिहारी शील कत्तृक प्रकाशित.

Manuscript Timeline
Submitted : *January 19, 2026* ***Accepted :*** *January 30, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल का अध्ययन

डॉ. आर. पुष्पा नामदेव[1]
विश्वमोहन[2]

सारांश

वर्तमान समय सूचना एवं संचार माध्यमों से परिपूर्ण है। हर जगह चाहे वह विद्यालय हो या घर हर विद्यार्थी या व्यक्ति इसका किसी न किसी रूप में उपयोग कररहें है जैसे पढ़ाई, व्यापार, सम्प्रेषण, शिक्षण आदि। जीवन का कोई भी कोना इससे अछूता नहीं रहा है। इन सभी के मध्य सामाजिक अंतःक्रिया के लिए कई प्रकार के सोशल मीडिया जैसे फेसबुक, व्हाट्सअप, ट्विटर, इन्स्टाग्राम आदि का उपयोग किया जा रहा है। इन माध्यमों के उपयोग एवं इनके उपयोग की आवृत्ति कहीं न कहीं हमारे जीवन को प्रभावित करती है। विशेषकर विद्यार्थियों पर जिनके समक्ष भावी जीवन की योजनाओं एवं लक्ष्यों के निर्धारण के साथ-साथ जीवन में सफलता की ओर अग्रसर होना होता है। प्रस्तुत शोध अध्ययन का उद्देश्य उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन करना है। यह वर्णनात्मक शोध है जिसके अंतर्गत सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में न्यादर्श के रूप में वर्धा शहर के 11वीं एवं 12वीं के विद्यार्थियों का चयन यादृच्छिक न्यादर्शन विधि द्वारा किया गया है। प्रदत्त संकलन हेतु विशाल सूद एवं साथियों द्वारा मानकीकृत सामाजिक कौशल मापनी एवं सोशल मीडिया संलग्नता के मापन हेतु शोधार्थी द्वारा स्वनिर्मित उपकरण का उपयोग किया गया है। प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक विचलन, सह-संबंध एवं प्रसरण विश्लेषण का उपयोग किया गया है। अध्ययन के परिणाम में पाया गया कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल एवं सोशल मीडिया संलग्नता के मध्य सार्थक सह संबंध एवं प्रभाव नहीं है। यह शोध सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के संदर्भ में महत्वपूर्ण आयामों पर ध्यान केन्द्रित कर विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु सुझाव प्रदान करता है।

मुख्य शब्द : *सोशल मीडिया, आईसीटी, सामाजिक कौशल, अधिगम, सम्प्रेषण।*

प्रस्तावना-

21वीं शताब्दी में सोशल मीडिया ने सम्पूर्ण विश्व में एक नई क्रांति का आरंभ किया है। आज सोशल मीडिया के माध्यम से पूरे विश्व में संपर्क साधने में सफलता प्राप्त हुई है वहीं दूसरी ओर इसके माध्यम से व्यक्तियों

---

[1] सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)- 442001.
[2] पी-एच.डी. शोधार्थी, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,वर्धा (महाराष्ट्र)- 442001.

के विविध पक्ष भी प्रभावित हुए है जैसे सम्प्रेषण, सामाजिकता, अधिगम, व्यक्तित्व आदि। सोशल मीडिया व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। सोशल मीडिया वर्तमान समय में सबसे लोकप्रिय सूचनाओं का व्यापक संचार माध्यम बन गया है। जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर विस्तार एवं विकास परिलक्षित हो रहा है। सोशल मीडिया के माध्यम से व्यक्ति देश एवं विश्व के किसी भी कोने में संपर्क साधने, विचारों का आदान-प्रदान करने में सक्षम है। सोशल मीडिया के विकास के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हो रहा है विशेषकर विद्यार्थी वर्ग पर इसका अमिट प्रभाव पड़ रहा है। विद्यार्थियों द्वारा सोशल मीडिया का उपयोग अकादमिक उन्नयन, सम्प्रेषण एवं अधिगम कौशल के विकास हेतु किया जा रहा है (लस्क, 2010)। सोशल मीडिया एक तरफ जहां विद्यार्थियों को लाभ पहुंचा सकता है, तो वहीं, दूसरी तरफ इसका अधिक इस्तेमाल इनके लिए नुकसानदायक भी हो सकता है। वर्तमान समय में सोशल मीडिया संचार हेतु सर्वाधिक प्रचलित माध्यम बन गया है, विद्यार्थी एवं शिक्षक द्वारा भी इसका शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में प्रभावी रूप से उपयोग किया जा रहा है। जैन (2019) के अनुसार आईसीटी (सूचना संचार प्रौद्योगिकी) आधारित सोशल मीडिया के आविर्भाव ने अध्ययन और शिक्षा में नवाचार की गति को उल्लेखनीय तेजी प्रदान की है। सामाजिक विकास में सोशल मीडिया की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है। विद्यार्थियों का मानना है कि इन सोशल मीडिया के उपयोग से उन्हें अध्ययन, शोध और रोजगार प्राप्त करने में सहायता मिलती है। सरकारी नीतियों और सामाजिक कल्याण संबंधी योजनाओं के बारे में सोशल मीडिया के सहयोग से समय रहते पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होने के कारण समाज के सर्वांगीण विकास की राह आसान हो गयी है (कुशवाहा एवं गांधी, 2018)। सोशल मीडिया के अत्यधिक उपयोग से सामाजिक कौशल का ह्रास होता है क्योंकि यह शाब्दिक एवं अशाब्दिक दोनों सम्प्रेषण को प्रभावित करता है (वेल्मोंट, 2019)। युवाओं में सामाजिक मुद्दों पर चर्चा हेतु सोशल नेटवर्किंग साइट्स अहम भूमिका निभा रही है इसके द्वारा उनमें सामाजिक मुद्दों के संदर्भ में जागरूकता विकसित हो रही है (जैन एवं गुप्ता, 2020)। कोहलर एवं अन्य (2021) ने अपने शोध में पाया कि अधिकांश विद्यार्थियों ने गैर अकादमिक उद्देश्यों के लिए सोशल नेटवर्किंग साइट्स का लंबे समय तक उपयोग किया है जो उनके शैक्षणिक कार्यों को बाधित करते हैं एवं उनके शैक्षणिक प्रदर्शन, सामाजिक संपर्क और नींद की अवधि पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। यह भी कह सकते है कि सोशल मीडिया के उपयोग से विद्यार्थियों के जीवन कौशल पर प्रभाव पड़ा है साथ ही इसकी सार्थकता भी विचारणीय है। शोध से संबन्धित साहित्यों के अवलोकन उपरांत ज्ञात होता है कि सोशल मीडिया से संबन्धित अनेक विषयों पर जैसे सोशल मीडिया एवं सामाजिक विकास, सोशल मीडिया का प्रभाव, सोशल मीडिया एवं सम्प्रेषण, सोशल मीडिया व्यवहार आदि पर कार्य किया गया है किन्तु सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल पर शोध कार्य की आवश्यकता प्रतीत होती है अतः शोधार्थी द्वारा उपर्युक्त विषय का चयन शोध कार्य हेतु किया गया।

शोध के उद्देश्य-

1. उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल का अध्यनन करना।
2. उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता का अध्ययन करना।

3. उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य सह-संबंध का अध्यनन करना।
4. उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल पर सोशल मीडिया संलग्नता के प्रभाव का अध्यनन करना।

शोध परिकल्पना-

$H_0$1: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य कोई सार्थक सह-संबंध नहीं है।

$H_0$2: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता के विभिन्न स्तरों का सामाजिक कौशल पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं है।

शोध का परिसीमन-

1. प्रस्तुत शोध उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों तक ही सीमित है।
2. प्रस्तुत शोध वर्धा शहर के सरकारी एवं गैर सरकारी विद्यालय तक ही सीमित है।

शोध अध्ययन में प्रयुक्त चरों की संक्रियात्मक परिभाषा-

सामाजिक कौशल- सामाजिक कौशल से तात्पर्य उन व्यवहारों से है, जो व्यक्ति अपने घर-परिवार, दोस्तों, सगे-संबंधियों, शिक्षकों आदि के साथ सम्प्रेषण एवं उनसे व्यवहार स्थापित करने के दौरान करता है। सामाजिक कौशल के अंतर्गत रचनात्मक अध्ययन कौशल, समस्या को सुलझाने के कौशल, निर्णय क्षमता कौशल और प्रदर्शन कौशल, कार्य प्रबंधन कौशल और क्षमता शामिल होते है।

सोशल मीडिया संलग्नता- सोशल मीडिया संलग्नता से आशय ऑनलाइन गतिविधियों से है जो विद्यार्थी अपने दैनिक जीवन में शामिल करते है। इसके अन्तर्गत ट्विटर, फेसबुक, व्हाट्सप्प, इन्स्टाग्राम आदि को शामिल किया गया है जो व्यवहारिक आदान प्रदान, दोस्तों के साथ सम्बन्ध, कार्य के नियोजन एवं सम्प्रेषण में काम आते है।

उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों से आशय 11वीं एवं 12वीं कक्षा में अध्ययनरत विद्यार्थियों से है।

शोध का अभिकल्प-

प्रस्तुत शोध वर्णनात्मक शोध है, जिसमें सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत शोध कार्य में सर्वेक्षण विधि द्वारा प्रदत्तों का संकलन किया गया एवं उनका विश्लेषण सांख्यिकी विधि से किया गया है।

न्यादर्श-

प्रस्तुत शोध में न्यादर्श का चयन यादृच्छिक न्यादर्शन विधि द्वारा किया गया है। जिसमें वर्धा शहर के दो विद्यालयों से 60 विद्यार्थियों को न्यादर्श के रूप में शामिल किया गया है।

शोध में प्रयुक्त उपकरण-

प्रस्तुत शोध में प्रदत्तों के संकलन हेतु निम्नलिखित उपकरणों का उपयोग किया गया है-

सामाजिक कौशल मापनी- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल के मापन हेतु डॉ. विशाल सूद, डॉ. आरती आनंद एवं सुरेश कुमार द्वारा निर्मित मानकीकृत मापनी का उपयोग किया गया है। इस मापनी में कुल 92 कथन है। इस मापनी में पाँच आयाम है- दूसरों के लिए चिंता का कौशल, संबंध/दोस्ती का कौशल, सम्प्रेषण कौशल, स्व नियंत्रण कौशल, निर्णय क्षमता या समस्या समाधान कौशल। शोध उपकरण की विश्वसनीयता परीक्षण पुनः परीक्षण विधि द्वारा ज्ञात किया गया है जिसका मान 0.7116 है। शोध उपकरण की वैधता विषय विशेषज्ञों द्वारा स्थापित किया गया। जिसमें सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के कथन है। इस मापनी में कथनों का चयन करने के लिए पांच पर्याय है। इस तरह कुल 92 एकांश होने के कारण अधिकतम 460 अंक तथा न्यूनतम 92 अंक है।

सोशल मीडिया संलग्नता मापनी- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता के मापन हेतु शोधार्थी द्वारा स्वनिर्मित मापनी का उपयोग किया गया। इस मापनी में कुल 30 पद है। इस मापनी के पाँच आयाम है- फेसबुक, व्हाट्सप्प, ट्विटर, इन्सटाग्राम एवं मोबाइल का उपयोग। शोध उपकरण की विश्वसनीयता अर्द्ध विच्छेदन द्वारा प्राप्त की गई जिसका मान 0.63 है। शोध की वैधता विषय विशेषज्ञों द्वारा स्थापित किया गया है। इस मापनी में कुल 30 एकांश है। इस उपकरण में कुल 30 एकांश है एवं इसका अंकन 30 से 150 के मध्य है। उच्च अंक उच्च सोशल मीडिया संग्लगता को दर्शाता है।

प्रदत्तों का विषलेषण-

प्रस्तुत शोध अध्ययन में प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु शोधकर्ता द्वारा मध्यमान, मानक विचलन, सह-संबंध एवं प्रसरण विश्लेषण का उपयोग किया गया है।

प्रदत्तों का विश्लेषण एवं व्याख्या-

उद्देश्य-1: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल का अध्यनन करना।

इस हेतु न्यादर्श द्वारा प्राप्त सामाजिक कौशल के प्रदत्तों का विश्लेषण किया गया।

तालिका 1. : उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशलके स्तर का विश्लेषण

क्र.	अंकों का वितरण	सामाजिक कौशल का स्तर	विद्यार्थियों की संख्या	प्रतिशत
1.	423-426	अत्यधिक उच्च	00	0
2.	402-422	उच्च	01	2
3.	380-401	औसत के ऊपर	03	5
4.	351-379	औसत	18	30
5.	330-350	औसत से कम	25	42

6.	308-329	कम	10	16
7.	303-307	अत्यधिक कम	03	5
कुल			**60**	**100**

स्रोत: *प्राथमिक आंकड़ों पर आधारित*

तालिका क्र. 1 से ज्ञात होता है कि 5 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल अत्यधिक कम है, 16 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल कम, 42 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल स्तर औसत से कम है, 30 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल स्तर औसत है, 5 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल स्तर औसत से ऊपर एवं 2 प्रतिशत विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल स्तर उच्च है। अत: हम कह सकते है कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल में भिन्नताएं है एवं इन भिन्नताओं की वजह विद्यालय एवं पारिवारिक परिवेश हो सकते है।

उद्देश्य 2: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता का अध्ययन करना।

इस हेतु न्यादर्श द्वारा प्राप्त सोशल मीडिया संलग्नता के प्रदत्तों का विश्लेषण किया गया।

तालिका 2.: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता के स्तर का विश्लेषण

क्र.	**अंकों का वितरण**	**विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता**	**विद्यार्थियों की संख्या**	**प्रतिशत**
1.	98 से अधिक	उच्च स्तर	12	20
2.	97-70	औसत स्तर	39	65
3.	69 से कम	निम्न स्तर	9	15
	कुल		**60**	**100**

स्रोत: *प्राथमिक आंकड़ों पर आधारित*

तालिका क्र. 2 से ज्ञात होता है कि 15 प्रतिशत उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता स्तर निम्न है, 65 प्रतिशत उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता स्तर औसत है एवं 20 प्रतिशत उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता स्तर उच्च है। अत: हम कह सकते है कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता में भिन्नताएं है। इसका कारण विद्यार्थियों के अन्य अकादमिक गतिविधियों में संलग्नता हो सकती है।

2. परिकल्पना परीक्षण

उद्देश्य3: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य सह-संबंध का अध्यनन करना।

$H_0$1: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य कोई सार्थक सह-संबंध नहीं है।

तालिका 3. : उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य 'r' की सार्थकता

चर	N	df	'r'	सार्थक
सोशल मीडिया संलग्नता	60	58	-0.110	नहीं
सामाजिक कौशल				

0.05 स्तर पर सारणी मान= .250

तालिका क्र. 3 से ज्ञात होता है कि अवलोकित 'r' का मान -.110 है, जो मुक्तांश (df) 58 पर .05 स्तर के सारणी मान से कम है। अत: 0.05 स्तर पर यह सह-संबंध का मान सार्थक नहीं है। इसलिए परिकल्पना "उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य कोई सार्थक सह संबंध नहीं है।" अस्वीकृत नहीं की जाती है। अत: यह कहा जा सकता है कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता एवं सामाजिक कौशल के मध्य कोई सार्थक सह संबंध नहीं है। प्राप्त सह सम्बन्ध का मान ऋणात्मक है अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक कौशल के बढ़ने से सोशल मीडिया संलग्नता घटती है या सोशल मीडिया संलग्नता बढ़ने से सामाजिक कौशल घटती है। बेल्मोंट (2019) ने भी अपने शोध आलेख में लिखा है कि यदि लोग निरंतर रूप से अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध एवं सम्प्रेषण स्थापित करने के लिए सोशल मीडिया का उपयोग करते है तो वे अपनी मौलिक सामाजिक कौशल को नज़रअंदाज़ करते है। वर्त्तमान शोध निष्कर्ष इस शोध निष्कर्ष के समतुल्य है।

उद्देश्य4: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल पर सोशल मीडिया संलग्नता के प्रभाव का अध्यनन करना।

$H_0$2: उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता के विभिन्न स्तरों का सामाजिक कौशल पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं है।

तालिका 4. : उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता के विभिन्न स्तरों एवं सामाजिक कौशल के मध्य 'F' की सार्थकता

प्रसरण श्रोत (Sourceofvariance)	**वर्गों का योग (SumofSquares)**	**df**	**मध्यमान वर्ग (Meansquares)**	**एफ़-अनुपात (F-Ratio)**	**सार्थक Sig.**
समूह के मध्य (BetweentheGroups)	555.147	2	277.574	0.60	.000

समूह की इकाइयों के अंतर्गत वर्गों का योग (WithintheGroups)	26325.453	57	461.850		
कुल (Total)	**26880.600**	**59**			

तालिका क्र. 4 के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अवलोकित 'F' का मान 0.60 है, अत: 0.05 स्तर पर यह मान सार्थक नहीं है। अतः उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल पर सोशल मीडिया संलग्नता का कोई सार्थक प्रभाव नहीं है। इसलिए परिकल्पना "उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता के विभिन्न स्तरों का सामाजिक कौशल पर कोई सार्थक प्रभाव नहीं है।" अस्वीकृत नहीं की जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता, सामाजिक कौशल को प्रभावित नहीं करती है। कोहलर एवं अन्य (2021) द्वारा प्राप्त शोध निष्कर्ष वर्तमान शोध निष्कर्ष से भिन्न है इसका कारण विद्यार्थियों में सोशल मीडिया संलग्नता की आवृत्ति एवं शैक्षिक वर्ग में भिन्नता हो सकती है।

शोध अध्ययन के परिणाम-

प्रदत्त विश्लेषण के आधार पर प्राप्त मुख्य परिणाम निम्नलिखित हैं-

- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल में भिन्नताएं है एवं इन भिन्नताओं की वजह विद्यालय एवं पारिवारिक परिवेश हो सकते है।
- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता में भिन्नताएं है।
- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता और सामाजिक कौशल के मध्य कोई सार्थक सह संबंध नहीं है।
- उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नत, सामाजिक कौशल को प्रभावित नहीं करती है।

शोध निष्कर्ष-

उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल में भिन्नताएं है एवं प्राप्त भिन्नताएं सामाजिक आर्थिक स्थिति के परिणाम स्वरूप हो सकता है। उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सोशल मीडिया संलग्नता में भी भिन्नताएं पाई गई है। प्राप्त प्रदत्तों के आधार पर हम कह सकते है कि उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों का सामाजिक कौशल, सोशल मीडिया संलग्नता से प्रभावित नहीं होती है किन्तु इनके मध्य ऋणात्मक सह संबंध पाया गया है। अतः सोशल मीडिया संलग्नता बढ़ने से सामाजिक कौशल का ह्रास होता है। अतः हम कह सकते है की सोशल मीडिया संलग्नता विद्यार्थियों के सामाजिक कौशल को पूर्णतः नहीं परंतु आंशिक रूप से प्रभावित करती है। प्राप्त परिणामों के आधार पर हम कह सकते है कि सोशल मीडिया संलग्नता विद्यार्थियों को प्रभावित करती है एवं विद्यार्थियों में सामाजिकता के विकास हेतु सोशल मीडिया का उपयोग

निर्देशित एवं संयमित रूप से किया जाना चाहिए साथ ही उन्हें अकादमिक गतिविधियों एवं उन्नयन हेतु इसका उपयोग कर इसके सकारात्मकता को सार्थक बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

शैक्षणिक निहितार्थ-

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में तकनीकी शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में सशक्त भूमिका का निर्वहन कर सकती है। साथ ही विद्यार्थियों में सोशल मीडिया के प्रति आकर्षण एवं रुचि होती है। सोशल मीडिया का उपयोग विद्यार्थी द्वारा अधिगम हेतु किया जाना चाहिए जिससे वे विषय वस्तु से परिचित हो एवं उनके सामाजिक कौशल का भी विकास हो। यदि सोशल मीडिया संलग्नता को सकारात्मक दिशा प्रदान की जाए एवं उसे शैक्षिक परिवेश से जोड़ दिया जाए तो यह विद्यार्थियों में सकारात्मक बदलाव ला सकता है। सोशल मीडिया के प्रभावी उपयोग द्वारा विद्यालय अपने शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को अधिक उद्देश्यपूर्ण एवं इसका विद्यार्थियों तक पहुँच सुलभ बना सकते हैं। इसके साथ ही विद्यालय द्वारा विषय वस्तु के प्रस्तुतीकरण को आकर्षक एवं बोधगम्य बनाया जा सकता है जिससे न सिर्फ विद्यालय विशेष तक ही गुणवत्तापूर्ण शिक्षण पहुँच सके अपितु इसके माध्यम से अन्य विद्यालयों के विद्यार्थी भी लाभान्वित हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

- बेलमोंट, आर. (2019). *इफैक्ट ऑफ सोशल मीडिया ऑन सोशल स्किल्स*. होराइजन ऑनलाइन : द स्टूडेंट न्यूज पेपर ऑफ लिनब्रुक हाई स्कूल, न्यूयॉर्क, लिनब्रुक. https://lhshorizon.com/2828/opinions/the-effect-of-social-media-on-social-skills/
- जैन, ए. (2019). महाविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों पर सोशल मीडिया के प्रभाव का अध्ययन. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडुकेशन, मॉडर्न मैनेजमेंट, अप्लाइड साइन्स एंड सोशल साइन्स, 1*(4), पृ. 47-50. https://inspirajournals.com/uploads/Issues/1140098461.pdf
- जैन, एम.आर., एवं गुप्ता, पी. (2012). इंपेक्ट ऑफ सोशल नेटवर्किंग सइट्स इन द चेंजिंग माइंडसेट ऑफ यूथ ऑन सोशल इस्सूस अ स्टडी ऑफ दिल्ली एनसीआर यूथ. *रिसर्च वर्ल्ड जर्नल ऑफ साइन्स, आर्ट्स एंड कॉमर्स, 3*(2), पृ. 36-47. https://www.researchgate.net/publication/342563053_IMPACT_OF_SOCIAL_NETWORKING_SITES_IN_THE_CHANGING_MINDSET_OF_YOUTH_ON_SOCIAL_ISSUES_-A_STUDY_OF_DELHI-NCR_YOUTH
- कुशवाहा, आर., एवं गाँधी, एस. (2018). सामाजिक विकास में सोशल मीडिया की भूमिका : एक अध्ययन. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ हिन्दी रिसर्च, 4* (1). पृ. 20-23. https://www.hindijournal.com/archives/2018/vol4/issue 1/4-1-15

- कोहलर, एम., काजी, आर., एवं अलमीन, अ. (2021). इफैक्ट ऑफ सोशल मीडियास ऑन लर्निंग, सोशल इंटेरवसन एंड स्लीप ड्यूरेशन अमंग यूनिवर्सिटी स्टूडेंट्स. *सऊदी जर्नल ऑफ बायोलॉजिकल साइन्स, 28*(4) पृ. 2216-2222. https://doi.org/10.1016/j.sjbs.2021.01.010.
- लस्क, बी. (2010). डिजिटल नेटिव एंड सोशल मीडिया बिहेवियर्स : एन ओवरव्यू. द *प्रिवेनशन रिसर्चर, 17*(5), पृ. 3-6. https://eric.ed.gov/?id=EJ909130
- सूद, वि., आनंद, ए. एवं कुमार, एस. (2012). *सामाजिक कौशल मापनी.* नेशनल साइकोलोजिकल कार्पोरेशन.

Manuscript Timeline
Submitted : *January 20, 2026* ***Accepted :*** *January 30, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

वर्धा जिले के येलाकेळी ग्राम में स्वयं सहायता समूह (SHG) सदस्यों के परिवारों की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. शिवाजी रघुनाथराव जोगदंड[1]

सारांश

यह अध्ययन वर्धा जिले के येलाकेळी ग्राम में स्वयं सहायता समूहों (SHG) से जुड़े परिवारों की आर्थिक स्थिति तथा समूह में आने वाली समस्याओं के विश्लेषण पर आधारित है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि SHG में भागीदारी से परिवारों की आर्थिक स्थिति, आय, बचत तथा सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण में किस प्रकार परिवर्तन आया है, साथ ही समूह संचालन के दौरान आने वाली प्रमुख समस्याएँ कौन-सी हैं।

इस अध्ययन में कुल 120 उत्तरदाताओं का चयन किया गया। प्राथमिक डेटा संरचित प्रश्नावली के माध्यम से एकत्र किया गया, जबकि द्वितीयक डेटा विभिन्न सरकारी रिपोर्टों, SHG रिकॉर्ड एवं संबंधित साहित्य से प्राप्त किया गया। डेटा विश्लेषण के लिए प्रतिशत, माध्य, मानक विचलन तथा Chi-Square परीक्षण जैसी सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग किया गया।

अध्ययन के परिणामों से यह स्पष्ट हुआ कि SHG से जुड़े परिवारों की आर्थिक स्थिति में सकारात्मक सुधार हुआ है, विशेष रूप से आय, बचत और वित्तीय निर्णय क्षमता में वृद्धि देखी गई है। साथ ही, महिलाओं में आत्मविश्वास, सामाजिक भागीदारी एवं जागरूकता में भी उल्लेखनीय सुधार पाया गया है। हालांकि, कुछ समस्याएँ जैसे बैंकिंग प्रक्रिया की जटिलता, प्रशासनिक बाधाएँ, विपणन चुनौतियाँ तथा पारिवारिक प्रतिरोध अभी भी मध्यम स्तर पर विद्यमान हैं।

मुख्य शब्द (Keywords): *स्वयं सहायता समूह (SHG) , आर्थिक स्थिति, महिला सशक्तिकरण, येलाकेळी ग्राम, वर्धा जिला।*

प्रस्तावना-

भारत एक कृषि प्रधान देश है, जहाँ जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि एवं उससे संबंधित गतिविधियों पर निर्भर है, किन्तु इन क्षेत्रों में गरीबी, बेरोजगारी, अल्प आय, ऋणग्रस्तता तथा सामाजिक-आर्थिक असमानता जैसी समस्याएँ लंबे समय से विद्यमान रही हैं। इन चुनौतियों के कारण ग्रामीण परिवारों का जीवन स्तर निम्न बना रहता है तथा वे औपचारिक वित्तीय संस्थाओं से भी वंचित रह जाते हैं (Reddy, 2017)। इन समस्याओं के समाधान

[1] सहायक आचार्य, वर्धा समाज कार्य संस्थान, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)- 442001.
ई-मेल.- jogdandsrj@gmail.com

के लिए सरकार एवं गैर-सरकारी संगठनों द्वारा अनेक कार्यक्रम एवं योजनाएँ संचालित की गई हैं। इन्हीं प्रयासों के अंतर्गत स्वयं सहायता समूह एक सशक्त और प्रभावी रणनीति के रूप में उभरे हैं, जो सामूहिकता, आत्मनिर्भरता और सहभागिता के सिद्धांतों पर आधारित हैं (Singh, 2020)।

विशेषकर 1990 के दशक के बाद, भारत की ग्रामीण विकास नीतियों में "नीचे से ऊपर" (bottom-up approach) की अवधारणा को महत्व दिया गया, जिसमें स्थानीय समुदाय की भागीदारी को केंद्र में रखा गया। इस संदर्भ में SHG आंदोलन को बढ़ावा मिला, जिसे राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) द्वारा SHG–Bank Linkage Programme के माध्यम से संस्थागत समर्थन प्रदान किया गया (NABARD, 2018)। यह कार्यक्रम वित्तीय समावेशन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ, जिससे ग्रामीण गरीबों, विशेषकर महिलाओं, को औपचारिक बैंकिंग प्रणाली से जोड़ा गया (Reserve Bank of India [RBI], 2020)। SHGs ने न केवल आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की है। विभिन्न अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि SHG से जुड़ने के बाद महिलाओं की आय, बचत क्षमता, निर्णय लेने की शक्ति तथा सामाजिक सहभागिता में वृद्धि हुई है (Kabeer, 2005)। इसके अतिरिक्त, SHG सदस्यों में आत्मविश्वास, नेतृत्व क्षमता तथा सामूहिक कार्य करने की भावना का विकास भी देखा गया है (Kumar & Sharma, 2019)।

महाराष्ट्र राज्य के वर्धा जिले में भी SHG आंदोलन ने ग्रामीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। येलाकेळी ग्राम जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में SHG के माध्यम से महिलाओं की सक्रिय भागीदारी, नियमित बचत, आंतरिक ऋण सुविधा तथा स्वरोजगार के अवसरों में वृद्धि देखी गई है। इससे परिवारों की आय में सुधार तथा जीवन स्तर में सकारात्मक परिवर्तन की संभावनाएँ उत्पन्न हुई हैं। हालांकि, इन सकारात्मक प्रभावों के बावजूद कई संरचनात्मक एवं व्यावहारिक समस्याएँ अब भी बनी हुई हैं, जैसे अपर्याप्त आय, ऋण प्रबंधन की कठिनाई, विपणन सुविधाओं का अभाव, कौशल एवं प्रशिक्षण की कमी, तथा सरकारी योजनाओं के प्रति सीमित जागरूकता (Reddy, 2017; Singh, 2020)। ये समस्याएँ SHG की प्रभावशीलता को सीमित करती हैं और इनके दीर्घकालिक प्रभाव को प्रभावित करती हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में, येलाकेळी ग्राम के SHG सदस्यों के परिवारों की आर्थिक स्थिति एवं उनके समक्ष उपस्थित समस्याओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। यह अध्ययन न केवल SHG की वास्तविक प्रभावशीलता को समझने में सहायक होगा, बल्कि ग्रामीण विकास की नीतियों एवं कार्यक्रमों में सुधार हेतु भी महत्वपूर्ण दिशा प्रदान करेगा (Kumar & Sharma, 2019)।

स्वयं सहायता समूह (SHG) की अवधारणा-

स्वयं सहायता समूह एक छोटा, स्वैच्छिक और अनौपचारिक समूह होता है, जिसमें सामान्यतः 10–20 सदस्य होते हैं, जो समान सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से आते हैं और अपनी समस्याओं के

समाधान के लिए सामूहिक रूप से कार्य करते हैं (Reddy, 2017)। SHG का मूल उद्देश्य सदस्यों में बचत की आदत विकसित करना, आंतरिक ऋण व्यवस्था स्थापित करना तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देना है। SHG सदस्य नियमित रूप से छोटी-छोटी बचत करते हैं और उसी निधि से जरूरतमंद सदस्यों को ऋण प्रदान करते हैं। यह अवधारणा सामूहिकता, आत्मनिर्भरता और सहभागिता के सिद्धांतों पर आधारित है। SHG न केवल एक वित्तीय संस्था के रूप में कार्य करता है, बल्कि यह सामाजिक परिवर्तन का माध्यम भी बनता है (Singh, 2020)।

स्वयं सहायता समूह (SHG) का महत्व-

1. ***आर्थिक सशक्तिकरण:*** SHG के माध्यम से सदस्य नियमित बचत करते हैं और छोटे ऋण प्राप्त कर स्वरोजगार शुरू करते हैं, जिससे उनकी आय में वृद्धि होती है। यह ग्रामीण गरीबों को साहूकारों पर निर्भरता से मुक्त करता है (NABARD, 2018)।
2. ***महिला सशक्तिकरण:*** SHG विशेष रूप से महिलाओं के लिए एक सशक्त मंच प्रदान करता है। इससे महिलाओं में आत्मविश्वास, निर्णय लेने की क्षमता तथा सामाजिक भागीदारी बढ़ती है (Kabeer, 2005)।
3. ***वित्तीय समावेशन:*** SHG-बैंक लिंकेज प्रोग्राम के माध्यम से गरीब वर्ग बैंकिंग सेवाओं से जुड़ता है, जिससे औपचारिक वित्तीय प्रणाली तक उनकी पहुँच बढ़ती है (RBI, 2020)।
4. ***सामाजिक परिवर्तन:*** SHG सामाजिक मुद्दों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, लैंगिक समानता पर जागरूकता फैलाने में सहायक होते हैं। यह सामाजिक एकजुटता और सामुदायिक विकास को बढ़ावा देता है (Singh, 2020)।
5. ***रोजगार सृजन:*** SHG के माध्यम से छोटे उद्योग, हस्तशिल्प, कृषि आधारित गतिविधियाँ आदि विकसित होती हैं, जिससे स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर बढ़ते हैं (Kumar & Sharma, 2019)।

अध्ययन के उद्देश्य-

1. येलाकेळी ग्राम में स्वयं सहायता समूह (SHG) से जुड़े परिवारों की वर्तमान आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करना।
2. SHG में भागीदारी के परिणामस्वरूप परिवारों की आय, बचत एवं जीवन स्तर में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करना।
3. SHG सदस्यों के परिवारों के आय स्तर और समस्या स्तर के बीच संबंध का विश्लेषण करना।

परिकल्पना-

- SHG सदस्यों के परिवारों के आय स्तर और समस्या स्तर के बीच सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण संबंध है।

शोध प्रविधि-

यह अध्ययन वर्धा जिले के येलाकेळी ग्राम में किया गया है। इस शोध का मुख्य उद्देश्य स्वयं सहायता समूह (SHG) से जुड़े परिवारों की आर्थिक स्थिति तथा समूह में आने वाली समस्याओं का विश्लेषण करना है। अध्ययन में SHG सदस्यों के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों तथा समूह संचालन से संबंधित चुनौतियों को समझने के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के डेटा का उपयोग किया गया है।

इस अध्ययन का अनुसंधान क्षेत्र महाराष्ट्र राज्य के वर्धा जिले का येलाकेळी ग्राम है, जो ग्रामीण विकास एवं स्वयं सहायता समूह (SHG) गतिविधियों के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता है। इस क्षेत्र का चयन इसलिए किया गया क्योंकि यहाँ SHG की सक्रियता अपेक्षाकृत अधिक है और महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण से संबंधित गतिविधियाँ निरंतर चल रही हैं।

इस अध्ययन में वर्णनात्मक अनुसंधान डिजाइन का उपयोग किया गया है, क्योंकि इसका उद्देश्य SHG सदस्यों की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक स्थिति, आर्थिक परिवर्तन तथा समूह में आने वाली समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण करना है। यह डिजाइन अध्ययन को वास्तविक स्थिति के निकट लाने में सहायक है।

अध्ययन की जनसंख्या येलाकेळी ग्राम के स्वयं सहायता समूहों से जुड़े परिवार हैं। इस अध्ययन के लिए कुल 120 उत्तरदाताओं का चयन किया गया, जो SHG गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। यह नमूना अध्ययन के उद्देश्यों के अनुरूप चुना गया है।

नमूना चयन हेतु उद्देश्यपूर्ण एवं सरल यादृच्छिक विधि का उपयोग किया गया है, ताकि SHG से जुड़े सक्रिय एवं प्रासंगिक उत्तरदाताओं का चयन किया जा सके और अध्ययन अधिक विश्वसनीय बन सके।

डेटा संग्रह के लिए प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों स्रोतों का उपयोग किया गया है। प्राथमिक डेटा संरचित प्रश्नावली के माध्यम से प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदाताओं से एकत्र किया गया, जबकि द्वितीयक डेटा विभिन्न सरकारी रिपोर्टों, SHG रिकॉर्ड, पुस्तकों एवं शोध पत्रों से प्राप्त किया गया।

डेटा के विश्लेषण हेतु प्रतिशत, माध्य, मानक विचलन तथा Chi-Square परीक्षण जैसी सांख्यिकीय तकनीकों का उपयोग किया गया है, जिससे प्राप्त आंकड़ों का वैज्ञानिक एवं सटीक विश्लेषण किया जा सके। इस अध्ययन की कुछ सीमाएँ भी हैं। यह अध्ययन केवल येलाकेळी ग्राम तक सीमित है, इसलिए इसके निष्कर्ष व्यापक स्तर पर सामान्यीकृत नहीं किए जा सकते। इसके अतिरिक्त, अध्ययन में केवल 120 उत्तरदाताओं को शामिल किया गया है तथा प्राप्त जानकारी उत्तरदाताओं के व्यक्तिगत अनुभवों एवं धारणाओं पर आधारित है।

स्वयं सहाता समूह के सदस्यों के परिवार का आय स्तर और समस्या स्तर के बीच संबंध-

इस अध्ययन में 120 उत्तरदाताओं के आधार पर आय के स्तर (Income Level) और समस्या के स्तर (Problem Level) के बीच संबंध का विश्लेषण किया गया है। समस्या स्तर को तीन श्रेणियों—अंशतः (8–14), मध्यम (14–21) और उच्च (22–35)—में विभाजित किया गया है। इस संबंध को समझने के लिए Chi-Square परीक्षण (χ^2 test) का उपयोग किया गया है, ताकि यह पता लगाया जा सके कि आय स्तर और समस्याओं के अनुभव के बीच कोई सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण संबंध (significant association) है या नहीं।

सारणी संख्या 01 : स्वयं सहाता समूह के सदस्यों के परिवार का आय स्तर एवं समस्या स्तर के बीच संबंध का सांख्यिकीय विश्लेषण

आय का स्तर	समस्या का स्तर			कुल
	अंशत: (8-14)	मध्यम (14-21)	उच्च समस्या (22-35)	
6000 से 10000	8.67	16.68	0.65	26
5000 से कम	28.67	55.18	2.15	86
10000 से अधिक	2.67	5.13	0.2	8
कुल	**40**	**77**	**3**	**120**

स्रोत- *क्षेत्र आधारित आकड़े*

	Chi^2	df	p
आय का स्तर - समस्या का स्तर	10.12	4	.038

प्राप्त Chi-Square परीक्षण के परिणाम निम्न प्रकार हैं:

- **Chi-square (χ^2) = 10.12**
- **df = 4**
- **p-value = 0.038**

p-value (0.038) 0.05 से कम है, जो यह दर्शाता है कि परिणाम सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण (statistically significant) है।

तालिका के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि:

- **5000 से कम आय वर्ग** में अधिकांश उत्तरदाता मध्यम और अंशतः समस्या स्तर में आते हैं, जबकि उच्च समस्या स्तर भी अपेक्षाकृत अधिक है।
- **6000 से 10000 आय वर्ग** में भी मध्यम समस्या प्रमुख है, लेकिन उच्च समस्या अपेक्षाकृत कम है।

- **10000 से अधिक आय वर्ग** में समस्याओं का स्तर बहुत कम पाया गया है।

यह स्पष्ट करता है कि आय स्तर बढ़ने के साथ समस्या स्तर घटता है।

अतः **स्वयं सहाता समूह के सदस्यों के परिवार का आय स्तर एवं समस्या स्तर के बीच संबंध है यह** परिकल्पना स्वीकार की जाती है।

स्वयं सहाता समूह के सदस्यों को आनेवाली विभिन्न समस्याएँ-

इस अध्ययन में कुल 120 उत्तरदाताओं के आधार पर विभिन्न प्रकार की समस्याओं का विश्लेषण किया गया है, जिनमें आर्थिक समस्या, बैंक प्रक्रिया की जटिलता, पारिवारिक प्रतिरोध, समय प्रबंधन की समस्या, प्रशासनिक अवरोध, समूह में आंतरिक संघर्ष तथा विपणन संबंधी चुनौतियाँ शामिल हैं। इन सभी चर (variables) का मूल्यांकन माध्य (Mean) एवं मानक विचलन (Standard Deviation) के माध्यम से किया गया है, जिससे यह स्पष्ट किया जा सके कि उत्तरदाताओं द्वारा इन समस्याओं का अनुभव किस स्तर पर किया जाता है तथा उनमें कितनी भिन्नता पाई जाती है। यह विश्लेषण अध्ययन क्षेत्र में विद्यमान सामाजिक-आर्थिक एवं संस्थागत चुनौतियों को समझने में सहायक है।

सारणी संख्या 02 : स्वयं सहाता समूह के सदस्यों के आनेवाली विभिन्न समस्याएँ का विवरण

	N	**माध्य (Mean)**	**मानक विचलन**
आर्थिक समस्या	120	2.85	0.4
बैंक प्रक्रिया की जटिलता	120	2.62	0.52
पारिवारिक प्रतिरोध	120	2.17	0.74
समय प्रबंधन की समस्या	120	1.73	0.82
प्रशासनिक अवरोध	120	2.2	0.79
समूह में आंतरिक संघर्ष	120	2	0.66
विपणन की चुनौतियाँ	120	2.07	0.73

स्रोत- *क्षेत्र आधारित आकड़े*

प्राप्त आंकड़ों के अनुसार विभिन्न समस्याओं में अलग-अलग स्तर की तीव्रता पाई गई है।

- **आर्थिक समस्या (Mean = 2.85, SD = 0.40)** सबसे उच्च स्तर पर पाई गई है, जो यह दर्शाता है कि उत्तरदाताओं के लिए यह प्रमुख समस्या है और इसमें अपेक्षाकृत कम भिन्नता है, अर्थात अधिकांश लोग इसे समान रूप से अनुभव कर रहे हैं।
- **बैंक प्रक्रिया की जटिलता (Mean = 2.62, SD = 0.52)** दूसरी प्रमुख समस्या है, जो दर्शाती है कि बैंकिंग प्रक्रियाएँ अभी भी कुछ हद तक कठिन और जटिल महसूस की जाती हैं।

- **प्रशासनिक अवरोध (Mean = 2.20, SD = 0.79)** तथा **पारिवारिक प्रतिरोध (Mean = 2.17, SD = 0.74)** मध्यम स्तर की समस्याएँ हैं, लेकिन इनमें उत्तरदाताओं के अनुभवों में अपेक्षाकृत अधिक विविधता (variability) देखी गई है।
- **विपणन की चुनौतियाँ (Mean = 2.07, SD = 0.73)** और **समूह में आंतरिक संघर्ष (Mean = 2.00, SD = 0.66)** तुलनात्मक रूप से कम स्तर की समस्याएँ हैं, लेकिन फिर भी ये मौजूद हैं और समूह कार्य को प्रभावित करती हैं।
- **समय प्रबंधन की समस्या (Mean = 1.73, SD = 0.82)** सबसे कम औसत स्कोर वाली समस्या है, जिससे यह संकेत मिलता है कि अधिकांश उत्तरदाता समय प्रबंधन को उतनी गंभीर समस्या के रूप में अनुभव नहीं करते। हालांकि इसका उच्च मानक विचलन यह दर्शाता है कि कुछ लोगों के लिए यह समस्या गंभीर भी हो सकती है।

समग्र रूप से यह स्पष्ट होता है कि उत्तरदाताओं के बीच सबसे प्रमुख समस्या **आर्थिक कठिनाइयाँ** हैं, इसके बाद बैंकिंग और प्रशासनिक चुनौतियाँ आती हैं। जबकि समय प्रबंधन और समूह संघर्ष अपेक्षाकृत कम गंभीर समस्याएँ हैं। मानक विचलन के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि कुछ समस्याओं (जैसे समय प्रबंधन और प्रशासनिक अवरोध) में उत्तरदाताओं के अनुभवों में अधिक भिन्नता पाई जाती है।

निष्कर्ष-

यह अध्ययन स्वयं सहायता समूह (SHG) के सदस्यों के परिवारों की आर्थिक स्थिति तथा उनके समक्ष आने वाली विभिन्न समस्याओं के विश्लेषण पर आधारित है। अध्ययन में आय स्तर एवं समस्या स्तर के बीच संबंध तथा विभिन्न प्रकार की समस्याओं की तीव्रता का सांख्यिकीय विश्लेषण किया गया। प्राप्त परिणामों से यह स्पष्ट होता है कि SHG सदस्यों के जीवन में आर्थिक एवं संस्थागत कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

Chi-Square परीक्षण के आधार पर यह पाया गया कि आय स्तर और समस्या स्तर के बीच **सांख्यिकीय रूप से महत्वपूर्ण संबंध ($p = 0.038 < 0.05$)** विद्यमान है। इसका अर्थ है कि आय स्तर में परिवर्तन के साथ समस्याओं के अनुभव का स्तर भी बदलता है। निम्न आय वर्ग के उत्तरदाता अधिक समस्याओं का सामना करते हैं, जबकि उच्च आय वर्ग में समस्याएँ अपेक्षाकृत कम पाई जाती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक स्थिति जीवन की समस्याओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

विभिन्न समस्याओं के माध्य (Mean) विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि **आर्थिक समस्या (Mean = 2.85)** सबसे प्रमुख और गंभीर समस्या है। इसके बाद **बैंक प्रक्रिया की जटिलता (Mean = 2.62)** दूसरी प्रमुख बाधा के रूप में सामने आती है। **प्रशासनिक अवरोध (2.20)** और **पारिवारिक प्रतिरोध (2.17)** मध्यम स्तर की समस्याएँ हैं, जो SHG गतिविधियों को आंशिक रूप से प्रभावित करती हैं। वहीं **विपणन चुनौतियाँ (2.07)** तथा **समूह में आंतरिक संघर्ष (2.00)** अपेक्षाकृत कम स्तर की समस्याएँ हैं, लेकिन फिर

भी इनके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। **समय प्रबंधन की समस्या (1.73)** सबसे कम स्तर की समस्या पाई गई है, यद्यपि कुछ उत्तरदाताओं के लिए यह गंभीर भी हो सकती है।

समग्र रूप से यह अध्ययन दर्शाता है कि SHG ने ग्रामीण परिवारों की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं सामाजिक सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, परंतु अभी भी आर्थिक असमानता, बैंकिंग जटिलता और प्रशासनिक बाधाएँ प्रमुख चुनौतियाँ बनी हुई हैं। अतः SHG की प्रभावशीलता बढ़ाने के लिए वित्तीय सहायता, सरल बैंकिंग प्रक्रियाएँ और बेहतर प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता है।

संदर्भ-

- Chatterjee, S. (2016). Women empowerment through self-help groups in India. *Journal of Rural Development Studies, 35*(2), 45–60.
- Desai, V. (2012). *Rural development in India: Past, present and future*. Himalaya Publishing House.
- Government of India. (2019). *National Rural Livelihoods Mission (NRLM) guidelines*. Ministry of Rural Development.
- Government of Maharashtra. (2021). *State rural development and self-help group promotion report*. Rural Development Department.
- Kabeer, N. (2005). Is microfinance a 'magic bullet' for women's empowerment? *Economic and Political Weekly, 40*(44-45), 4709–4718.
- Kothari, C. R. (2004). *Research methodology: Methods and techniques* (2nd ed.). New Age International Publishers.
- Kumar, A., & Sharma, R. (2019). Impact of self-help groups on rural development in India. *Journal of Rural Development, 38*(2), 215–230.
- NABARD. (2018). *Status of microfinance in India 2017-18*. National Bank for Agriculture and Rural Development.
- NABARD. (2020). *Status of microfinance and self-help groups in India*. National Bank for Agriculture and Rural Development.
- Reddy, C. S. (2017). Self-help groups: A keystone of microfinance in India. *Kurukshetra Journal, 65*(3), 25–29.

- Reserve Bank of India (RBI). (2020). *Report on financial inclusion in India*. RBI Publications.
- Singh, K. (2018). *Rural development: Principles, policies and management*. Sage Publications.
- Singh, P. (2020). Role of SHGs in socio-economic development of rural women. *International Journal of Social Work, 12*(1), 45–52.
- Yunus, M. (2007). *Creating a world without poverty: Social business and the future of capitalism*. PublicAffairs.

Manuscript Timeline
Submitted : *January 25, 2026* ***Accepted :*** *February 10, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

1905 के बंगाल विभाजन और स्वदेशी आंदोलन का भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रभाव

दुर्गेश शाही[1]

सारांश

1905 का बंगाल विभाजन ब्रिटिश साम्राज्यवाद की "फूट डालो और शासन करो" नीति का एक स्पष्ट और विवादास्पद उदाहरण था, जिसने 20वीं शताब्दी के आरंभिक भारतीय राष्ट्रवाद को नई दिशा, गति और जन-आधार प्रदान किया। लॉर्ड कर्जन द्वारा 19 जुलाई 1905 को घोषित और 16 अक्टूबर 1905 को लागू किए गए इस विभाजन को प्रशासनिक सुविधा का नाम देकर प्रस्तुत किया गया था, किंतु भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं और जनता ने इसे बंगाल की सांस्कृतिक एकता को तोड़ने, बढ़ते राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलने तथा हिंदू-मुस्लिम विभेद को बढ़ावा देने की साजिश के रूप में देखा।

इस विभाजन के विरुद्ध बंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन उभरा, वह मात्र विदेशी वस्तुओं के boycott तक सीमित नहीं था। यह एक व्यापक राष्ट्रवादी जागरण था जिसमें आर्थिक स्वावलंबन (स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन), सांस्कृतिक पुनरुत्थान, राष्ट्रीय शिक्षा की स्थापना तथा राजनीतिक उग्रवाद की नई विचारधारा शामिल थी। आंदोलन ने रवींद्रनाथ टैगोर, अरविंद घोष, बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल और लाला लाजपत राय जैसे नेताओं को राष्ट्रव्यापी पहचान दी तथा कांग्रेस के अंदर उदारवादी और उग्रवादी धड़ों के बीच स्पष्ट विभाजन को जन्म दिया।

इस शोध पत्र में बंगाल विभाजन के वास्तविक कारणों, स्वदेशी आंदोलन की विभिन्न आयामों (आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक), इसकी सफलताओं एवं सीमाओं तथा इन घटनाओं के भारतीय राष्ट्रवाद पर दीर्घकालिक प्रभावों का विस्तृत ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है। आंदोलन ने न केवल 1911 में विभाजन रद्द करवाने में सफलता प्राप्त की, बल्कि बाद के असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और समग्र स्वतंत्रता संग्राम को वैचारिक तथा व्यावहारिक आधार भी प्रदान किया।

बीज शब्द : *बंग भंग, उदारवादी बनाम उग्रवादी, निष्क्रिय प्रतिरोध, स्वराज, फूट डालो और राज करो नीति, क्रांतिकारी राष्ट्रवाद, बहिष्कार, आर्थिक राष्ट्रवाद, स्वदेशी उद्योग, स्वदेश बांधव, सांस्कृतिक जागरण, भारत माता का चित्रण।*

---

[1] परास्नातक अध्येता, इतिहास विभाग, डी.बी.एस. पी.जी कॉलेज, कानपुर, उत्तर प्रदेश.
ई-मेल.- ishaadidurgesh86@gmail.com

बंगाल विभाजन: पृष्ठभूमि-

19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में बंगाल ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा, सबसे समृद्ध और राजनीतिक रूप से सबसे सक्रिय प्रांत था और यह बात उस समय के बंगाल की विशिष्टता और महत्व को रेखांकित करता है। इसके तीन मुख्या आयाम थे जिसमे पहला है इसकी *विशालता*, क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से बंगाल प्रेसिडेंसी ब्रिटिश भारत का सबसे विशाल प्रांत था। 1901 की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या लगभग 7.85 करोड़ (78.5 मिलियन) थी, जो उस समय ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 26-27% था।[1] इसमें वर्तमान पश्चिम बंगाल, बिहार, झारखंड, ओडिशा, असम और बांग्लादेश का बड़ा भाग शामिल था। कलकत्ता (कोलकाता) इसकी राजधानी थी, जो 1911 तक ब्रिटिश भारत की भी राजधानी थी । इतना बड़ा प्रांत होने के कारण इसका प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव पूरे भारत पर पड़ता था। यही कारण था कि ब्रिटिश इसे विभाजित करके कमजोर करना चाहते थे।[2,3]

इसके अलावा बंगाल आर्थिक दृष्टि से *सबसे समृद्ध और उत्पादक प्रांत* था। यह पूर्वकाल से ही सबसे अमीर सूबा था। पूर्ववर्ती मुगल साम्राज्य के कुल राजस्व का 40% से 50% बंगाल से आता था तथा दुनिया की कुल GDP में बंगाल लगभग 9% से 12% योगदान देता था।[4] ब्रिटिश काल में कलकत्ता एशिया का प्रमुख व्यापारिक केंद्र था। जूट, चाय, कपड़ा, कोयला आदि उद्योग यहां प्रमुख रूप से विकसित थे।[5] शिक्षा, बैंकिंग, व्यापार और उद्योग सभी क्षेत्रों में भी बंगाल सबसे अग्रणी था। इस प्रकार समृद्धि का मतलब केवल प्राकृतिक संसाधन नहीं, बल्कि व्यापार, उद्योग, शिक्षा और बौद्धिक पूंजी की भी समृद्धि थी। ब्रिटिश इस समृद्धि का शोषण करते थे, लेकिन उसी ने बंगालियों को संसाधन और जागरूकता भी दी।[6]

बंगाल न केवल ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा और समृद्ध प्रांत था, बल्कि प्रत्यक्ष पश्चिमी संपर्क से यहाँ प्रेस, साहित्य, शिक्षा और आधुनिक विचारों का संगम हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल भारतीय राष्ट्रवाद का बौद्धिक और राजनीतिक हृदय भी बन चुका था। कलकत्ता (कोलकाता) को तो 19वीं शताब्दी में *बंगाल रेनेसां* [2] का प्रमुख केंद्र ही माना जाता है।[7] ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित तीन प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालयों (कलकत्ता, बॉम्बे, मद्रास) में कलकत्ता सबसे प्रभावशाली था। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रमुख केंद्र बना। यहां पढ़े युवा बंगाली बुद्धिजीवी भद्रलोक के नाम से जाने गये , यह वर्ग ही सबसे पहले पश्चिमी विचारों (लोकतंत्र, स्वतंत्रता, राष्ट्रवाद) से प्रभावित हुआ और उन्हें भारतीय संदर्भ में लागू करने का प्रयास करने लगा।[8] बंगाल में प्रेस और साहित्य का तेजी से विस्तार हुआ कलकत्ता में अनेक समाचारपत्र निकलने लगे *बंगाली*, *हिंदू पैट्रियट*, *अमृत बाजार पत्रिका*, *बांदे मातरम*, *युगांतर* आदि। ये पत्र ब्रिटिश नीतियों की आलोचना करते थे और राष्ट्रवादी जागरण फैलाते थे। इन अख़बारों में ब्रिटिश नीतियों जैसे- Age of Consent Act, Partition of Bengal, Press censorship की तीखी आलोचना होती थी।

---

[2] **बंगाल रेनेसां**: राजा राममोहन राय से शुरू होकर रवींद्रनाथ टैगोर तक यह आंदोलन सामाजिक सुधार (सती प्रथा, विधवा विवाह), साहित्यिक पुनर्जागरण और राजनीतिक जागृति का वाहक बना। बंगाली बुद्धिजीवी वर्ग सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर राष्ट्रवाद की ओर मुड़ा।

इस प्रकार *कलकत्ता* बंगाल रेनेसांस, आधुनिक शिक्षा, समृद्ध प्रेस तथा बौद्धिक वर्ग भद्रलोक की सक्रियता ने यहां राष्ट्रवादी चेतना को गहराई प्रदान की। बंगाली बुद्धिजीवियों ने सबसे पहले पश्चिमी उदारवादी विचारों को भारतीय संदर्भ में आत्मसात् किया और वे ब्रिटिश शासन की नैतिक तथा राजनीतिक वैधता पर खुलकर प्रश्न उठाने लगे थे। ऐसे स्थिति में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कलकत्ता न सिर्फ ब्रिटिश भारत का प्रमुख बौद्धिक और राजनीतिक केंद्र बनकर उभरा अपितु ब्रिटिश राज की वैधता पर प्रश्न उठाने वाले एक विद्रोही केंद्र के रूप में भी विकसित हो गया था। इसी बात को बताते हुए इतिहासकार शेखर बंधोपाध्याय लिखते है:

> "By the end of the century, Calcutta was a city of rebels,
> loudly questioning the legitimacy of the Raj."[9]

ब्रिटिश अधिकारी कलकत्ता को राजद्रोह का अड्डा और "***nursery of sedition***" मानने लगे थे। लॉर्ड कर्जन ने 2 फरवरी 1905 को जॉन ब्रोडरिक को लिखे एक पत्र में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था:

> "**Calcutta is the centre from which the Congress Party is manipulated throughout the whole of Bengal, and indeed the whole of India.** Its best wire pullers and its most frothy orators all reside here… They dominate public opinion in Calcutta…"[10]

इस प्रकार, कलकत्ता मात्र एक प्रशासनिक राजधानी नहीं, बल्कि भारतीय राष्ट्रवाद का हृदय बन चुका था। ब्रिटिशों द्वारा इसे "rebels का शहर" मानना उनके बढ़ते भय को दर्शाता है। ब्रिटिश प्रशासन ने अपनी इसी असुरक्षा को दूर करने और बंगाल के इस राजनीतिक प्रभुत्व को कमजोर करना था।[11],[12]

विभाजन के घोषित कारण : ब्रिटिश सरकार और लॉर्ड कर्जन ने बंगाल के विभाजन के लिए जो कई प्रशासनिक तर्क दिए -पहला, प्रांत का अत्यधिक विशाल आकार: 1901 की जनगणना के अनुसार बंगाल प्रेसिडेंसी (जिसमें बिहार, ओडिशा और असम के हिस्से शामिल थे) की जनसंख्या लगभग 7.85 करोड़ थी और क्षेत्रफल बहुत बड़ा था। एक लेफ्टिनेंट गवर्नर के लिए इतने बड़े प्रांत का कुशल प्रशासन संभव नहीं था।[13,14] दूसरा, यह कि पूर्वी क्षेत्र (वर्तमान बांग्लादेश) दूरदराज, संचार सुविधाओं से वंचित, नदियों और जंगलों से घिरा होने के कारण विकास से वंचित रह गया था। व्यापार, शिक्षा और आधुनिकीकरण कलकत्ता केंद्रित थे।[15] तीसरा, असम का पुनः समायोजन: 1874 में असम को बंगाल से अलग किया गया था, इसे पूर्वी बंगाल के साथ जोड़कर एक नया प्रांत बनाने से प्रशासन बेहतर हो सकेगा।[16] चौथा, चटगांव बंदरगाह का विकास और पूर्वी क्षेत्र में व्यापार को बढ़ावा देने का तर्क भी दिया गया। परन्तु ये सभी कारण वास्तव में सतही थे और ब्रिटिश दस्तावेजों में इन्हें मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया ताकि वास्तविक राजनीतिक मंशा को छुपाया जा सके।[17]

विभाजन के वास्तविक कारण: विभाजन के इन घोषित कारणों के पीछे वास्तव में गहरे राजनीतिक उद्देश्य छिपे थे। इसमें सबसे प्रमुख था बंगाली राष्ट्रवाद और कलकत्ता के बढते प्रभुत्व को कमजोर करना, कलकत्ता

भारतीय राष्ट्रवाद का प्रमुख केंद्र बन चुका था। बंगाल रेनेसांस, समृद्ध प्रेस, बौद्धिक वर्ग और कांग्रेस की गतिविधियां यहां से संचालित होती थीं। ऐसे में अंग्रेजी प्रशासन का उद्देश्य "कलकत्ता को उसके राजनीतिक वर्चस्व से वंचित करना था[18] पश्चिम बंगाल में बिहार और ओडिशा को जोड़कर बंगाली भाषी लोगों को अल्पसंख्यक बना दिया गया। ताकि बंगाली राष्ट्रवाद को आघात पहुंचाया जा सके।[19] बंगाल में स्वदेशी भावना, क्रांतिकारी संगठन (अनुशीलन समिति) और उग्र राष्ट्रवादी गतिविधियां बढ़ रही थीं। विभाजन इन गतिविधियों को कमजोर करने का प्रयास था।[20] इसके अलावा अन्य सहायक कारण भी थे जिसमे पूर्वी क्षेत्र को अलग करके ब्रिटिश आर्थिक हितों (जूट, चाय आदि) को बेहतर नियंत्रित करना। तथा मुस्लिम लीग (1906) की स्थापना में भी इस विभाजन की भूमिका रही, क्योंकि मुस्लिम वर्ग को अलग प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार फूट डालो राज करो की नीति का भी क्रियान्वयन इसके माध्यम से दिखाई देता है।[21]

बंगाल विभाजन की प्रतिक्रिया: स्वदेशी आंदोलन का उदय-

1905 का बंगाल विभाजन ब्रिटिश सरकार की "फूट डालो और राज करो" नीति का प्रतीक बन गया। इसकी घोषणा 20 जुलाई, 1905 और क्रियान्वयन 16 अक्तूबर, 1905 के साथ ही पूरे बंगाल में तीव्र आक्रोश फैल गया, जिसने धीरे-धीरे पूरे भारत में एक बड़े जन-आंदोलन का रूप ले लिया। यह आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का **पहला बड़ा जन-आंदोलन** था, जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग, छात्र, महिलाएं और आम जनता बड़े पैमाने पर शामिल हुई।[22] विभाजन की घोषणा के तुरंत बाद प्रतिरोध की शुरुआत हुई। **7 अगस्त, 1905** को कलकत्ता टाउन हॉल में एक ऐतिहासिक जनसभा आयोजित की गई। इस सभा में हजारों लोग उपस्थित हुए और इसमें **स्वदेशी और बहिष्कार** का प्रस्ताव पारित किया गया।[23] इस प्रस्ताव में ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और उत्पादन को बढ़ावा देने का आह्वान किया गया। यह सम्मेलन स्वदेशी आंदोलन का **औपचारिक प्रारंभिक बिंदु** माना जाता है। सभा में भावुक वातावरण था और नेताओं ने ब्रिटिश नीति की कड़ी निंदा की।[24]

बंगाल विभाजन (1905) की घोषणा के बाद भारतीय राष्ट्रवादियों ने न केवल नकारात्मक विरोध किया, बल्कि एक सकारात्मक, रचनात्मक और बहुआयामी राष्ट्रवादी कार्यक्रम चलाया। *स्वदेशी आंदोलन* को इतिहासकार सुमित सरकार ने "भारतीय राष्ट्रवाद का पहला सच्चा जन-आंदोलन" कहा है। इस आंदोलन ने राजनीतिक प्रतिरोध को आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और प्रतीकात्मक आयाम प्रदान किए। आंदोलन का सबसे भावुक और दृश्यात्मक पहलू *राखी बंधन* कार्यक्रम था। 16 अक्तूबर, 1905 को विभाजन के दिन रवींद्रनाथ टैगोर ने पूरे बंगाल में राखी बंधन का आह्वान किया। हिंदू-मुस्लिम भाईचारे का यह कार्यक्रम विभाजन की 'फूट डालो और राज करो' नीति का सीधा जवाब था। टैगोर ने बंग भंग के विरोध में ही "अमर बांग्ला, अमार बांग्ला, आमि तोमाय भालोबासी..." ("अमर सोनार बांग्ला" गीत के माध्यम से बंगाल की अखंडता और मातृभूमि के प्रति प्रेम को व्यक्त किया" इस प्रकार यह कार्यक्रम केवल प्रतीकात्मक नहीं था। इसने सांप्रदायिक सद्भाव को मजबूत करने का प्रयास किया, हालांकि बाद में ब्रिटिश नीति के कारण हिंदू-मुस्लिम विभेद बढ़ा। साथ ही *अरंडी तेल* आदि का उपयोग ब्रिटिश तेल के बहिष्कार का सरल लेकिन प्रभावी प्रतीक

बना, जो आम जनता को आंदोलन से जोड़ने का माध्यम था।[25] *बहिष्कार आंदोलन*, स्वदेशी आंदोलन का सबसे शक्तिशाली और आक्रामक अंग था। ब्रिटिश कपड़े, नमक, चीनी और अन्य वस्तुओं का सार्वजनिक बहिष्कार किया गया। बाजारों में ब्रिटिश सामान की होली जलाना आम हो गया था। अरविंद घोष ने *बंदेमातरम* में बहिष्कार के सम्बन्ध में लिखा :-

"The boycott is a political weapon, not an act of hatred. It is the assertion of our national dignity and the refusal to be exploited."[26]

इस प्रकार बहिष्कार केवल आर्थिक विरोध नहीं था, बल्कि नैतिक और राजनीतिक प्रतिरोध का प्रतीक था। इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव को चुनौती दी। हालांकि यह आंदोलन शहरी मध्यवर्ग तक अधिक सीमित रहा, फिर भी इसने आम लोगों में विदेशी वस्तुओं के प्रति घृणा और स्वदेशी के प्रति आकर्षण पैदा किया। बहिष्कार के सकारात्मक पक्ष के रूप में *स्वदेशी उद्योगों की स्थापना* पर जोर दिया गया। कपड़ा, साबुन, माचिस, चीनी और लोहे के छोटे-छोटे उद्योग शुरू किए गए। यद्यपि ये उद्योग तकनीकी रूप से कमजोर और अल्पकालिक साबित हुए, लेकिन इनका महत्व मनोवैज्ञानिक था। इन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास जगाया कि वे विदेशी निर्भरता के बिना भी अपना आर्थिक जीवन चला सकते हैं। यही विचार बाद में महात्मा गांधी के खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम में परिपक्व रूप में दिखाई दिया। इस आंदोलन ने आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव रखी।[27,28]

स्वदेशी आंदोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण और दीर्घकालिक योगदान राष्ट्रीय शिक्षा का कार्यक्रम था। ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली को "गुलामी का कारखाना" मानकर उसका बहिष्कार किया गया। अरविंद घोष ने लिखा **कि**, "We shall not be able to liberate India unless we liberate our education from the grip of foreign control." इससे साफ़ था **कि राष्ट्रीय** शिक्षा नेतृत्व की दृष्टि में **एक** अहम मुद्दा था[29] और इसी कारण से **आंदोलन** के दौरान अनेक शैक्षिक प्रयास देखने को मिले, जैसे- 1906 में नेशनल काउंसिल ऑफ एजुकेशन की स्थापना हुई **और** बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना हुई, जिसके प्रिंसिपल स्वयं श्री अरविंद घोष थे। इसके अतिरिक्त अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की भी स्थापना हुई। इस प्रकार यह आंदोलन केवल अंग्रेजी शिक्षा के बहिष्कार तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना से युक्त शिक्षा व्यवस्था विकसित करना था, जिसमें भारतीय इतिहास, संस्कृति, विज्ञान और मूल्यों को प्रमुख स्थान दिया जाए। यह कार्यक्रम भारतीय राष्ट्रवाद को बौद्धिक आधार प्रदान करने वाला सबसे मजबूत कदम था।[30]

सांस्कृतिक जागरण; स्वदेशी आंदोलन का एक अन्य प्रमुख आयाम था। वंदे मातरम गान पूरे बंगाल और भारत में राष्ट्रगान के रूप में गूंजने लगा। रवींद्रनाथ टैगोर ने आंदोलन के दौरान अनेक अमर देशभक्ति गीत रचे, जिनमें "अमार सोनार बांग्ला", "एकला चलो रे" आदि प्रमुख हैं। भारत माता की छवि (अवनिंद्रनाथ टैगोर द्वारा चित्रित) लोकप्रिय हुई।[31] साहित्य, नाटक, लोकगीत और लोककथाओं के माध्यम से राष्ट्रवाद को आम जनता तक पहुँचाया गया। 16 अक्तूबर, 1905 को विभाजन के दिन राखी बंधन कार्यक्रम चलाकर हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया गया, जो आंदोलन का एक अनूठा प्रतीकात्मक आयाम था।[32]

स्वदेशी आंदोलन की एक अन्य बड़ी उपलब्धि इसका पूरे भारत में प्रसार था। बंगाल इसका मुख्य केंद्र रहा, जहाँ सुरेंद्रनाथ बनर्जी, बिपिन चंद्र पाल और अरविंद घोष जैसे नेताओं ने आंदोलन को संगठित किया। बंगाल से बाहर यह आंदोलन तेजी से फैला। महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक ने गणेशोत्सव और शिवाजी महोत्सव को जन-जागरण का माध्यम बनाया। उन्होंने "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा" का प्रसिद्ध नारा दिया, जो बाद में पूरे देश का नारा बन गया। पंजाब में लाला लाजपत राय ने आंदोलन को मजबूत समर्थन दिया और ब्रिटिश नीतियों की तीखी आलोचना की। दक्षिण भारत में वी.ओ. चिदंबरम पिल्लई ने स्वदेशी शिपिंग कंपनी की स्थापना कर आर्थिक स्वावलंबन का प्रयास किया।[33]

आंदोलन को संगठित रूप देने के लिए अनेक **स्वदेशी समितियां** जैसे स्वदेश बंधब समिति गठित की गईं, जो गांव-गांव तक प्रचार, बहिष्कार और स्वदेशी उत्पादों के वितरण का कार्य करती थीं। छात्र, महिलाएं और मध्यवर्ग की व्यापक भागीदारी ने इसे वास्तविक जन-आंदोलन का रूप प्रदान किया। इस प्रकार, स्वदेशी आंदोलन के दौरान न केवल विरोध हुआ, बल्कि राष्ट्रवाद को आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय स्तर पर एक नया आयाम मिला। यद्यपि ब्रिटिश दमन के कारण 1908 तक इसका मुख्य चरण समाप्त हो गया, फिर भी इसने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की दिशा बदल दी और आत्मनिर्भरता, स्वराज तथा जन-जागरण की नींव रखी।[34,35]

समग्र रूप से देखे तो स्वदेशी आंदोलन की ये प्रतिक्रियाएं मात्र विरोधात्मक नहीं थीं, बल्कि रचनात्मक राष्ट्रवाद का प्रतीक थीं। प्रतीकात्मक कार्यक्रमों के बहुयाम प्रभाव हुए जन-भावना का जागरण हुआ, बहिष्कार ने आर्थिक प्रतिरोध का अर्थ सिखाया, स्वदेशी उद्योगों ने आत्मनिर्भरता की भावना पैदा की और राष्ट्रीय शिक्षा ने भविष्य की पीढ़ी को राष्ट्रवादी विचारों से जोड़ा। इतिहासकार Sekhar Bandyopadhyay के अनुसार, "स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रवाद को निष्क्रिय बौद्धिक बहस से सक्रिय जन-प्रतिरोध की ओर ले जाकर स्वतंत्रता संग्राम के भविष्य को आकार दिया।[36]

स्वदेशी आंदोलन का भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रभाव-

1905 के बंगाल विभाजन के विरुद्ध शुरू हुआ स्वदेशी आंदोलन भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में एक युगांतरकारी घटना सिद्ध हुआ। इस आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रवाद को निष्क्रिय, मध्यमार्गी और संवैधानिक चरण से सक्रिय, जन-आधारित तथा उग्र चरण की ओर ले जाकर उसका स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया।[37] सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि राष्ट्रवाद अब केवल शिक्षित मध्यवर्ग और वकीलों-बुद्धिजीवियों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसमें छात्रों, महिलाओं, व्यापारियों और आम जनता की व्यापक भागीदारी हुई। इसने राष्ट्रवाद को जन-आंदोलन का रूप प्रदान किया, जिसकी नींव बाद में महात्मा गांधी के असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों में दिखाई दी।[38]

आंदोलन ने **आर्थिक राष्ट्रवाद** की अवधारणा को मजबूत आधार दिया। ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि राजनीतिक स्वराज बिना आर्थिक स्वावलंबन के अधूरा है। स्वदेशी कपड़ा, शिक्षा और उद्योगों पर जोर देने से आत्मनिर्भरता की भावना जागृत

हुई[39], जो आज भी 'आत्मनिर्भर भारत' की अवधारणा में प्रतिबिंबित होती है। साथ ही, **सांस्कृतिक राष्ट्रवाद** को नई ऊर्जा मिली। वंदे मातरम गान, रवींद्रनाथ टैगोर के गीत, भारत माता की छवि और राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन ने राष्ट्रवाद को भावनात्मक और सांस्कृतिक गहराई प्रदान की।

राजनीतिक स्तर पर स्वदेशी आंदोलन ने **स्वराज** को कांग्रेस का स्पष्ट लक्ष्य बनाया। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी द्वारा स्वराज की घोषणा इसी आंदोलन का परिणाम थी। इसने मध्यमार्गी और उग्रवादी गुटों के बीच वैचारिक संघर्ष को तेज किया, जिसका परिणाम 1907 के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस का विभाजन हुआ।[40] इस विभाजन ने हालांकि कांग्रेस को कमजोर किया, परंतु राष्ट्रवाद को अधिक क्रांतिकारी और साहसी दिशा दी। आंदोलन ने पूरे भारत में एकता की भावना फैलाई। बंगाल से शुरू होकर यह महाराष्ट्र, पंजाब, मद्रास और अन्य प्रांतों तक पहुंचा, जिससे क्षेत्रीय राष्ट्रवाद राष्ट्रीय राष्ट्रवाद में रूपांतरित हुआ।

हालांकि, आंदोलन के कुछ नकारात्मक प्रभाव भी रहे। ब्रिटिश 'फूट डालो और राज करो' नीति के कारण हिंदू-मुस्लिम विभेद बढ़ा, जिससे 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। ब्रिटिश दमन के परिणामस्वरूप क्रांतिकारी आतंकवाद को बढ़ावा मिला, जिसने *अनुशीलन समिति* और *जुगांतर* जैसे संगठनों को जन्म दिया।[41] फिर भी, इन चुनौतियों के बावजूद स्वदेशी आंदोलन ने भारतीयों में आत्मविश्वास, संगठन शक्ति और विरोध की क्षमता विकसित की।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वदेशी आंदोलन भारतीय राष्ट्रवाद का वह चरण था, जिसमें जन-शक्ति, आर्थिक स्वावलंबन और सांस्कृतिक जागरण को एकीकृत किया गया। सुमित सरकार ने इसे "भारतीय राष्ट्रवाद का पहला सच्चा जन-आंदोलन" कहा है। यद्यपि यह आंदोलन अल्पकालिक रहा और ब्रिटिश दमन के कारण 1908 तक मुख्य रूप से दबा दिया गया, फिर भी इसने स्वतंत्रता संग्राम की दिशा और गति दोनों को स्थायी रूप से बदल दिया।

आंदोलन ने राष्ट्रवाद को निष्क्रिय और संवैधानिक चरण से उठाकर सक्रिय जन-प्रतिरोध के चरण में प्रवेश कराया। बिपिन चंद्र पाल ने ठीक ही कहा था- "Swadeshi is not merely an economic movement, it is a spiritual and national movement." इस आंदोलन ने आर्थिक राष्ट्रवाद, बहिष्कार और स्वदेशी की अवधारणा को मजबूत आधार प्रदान किया।[42] रवींद्रनाथ टैगोर और अरविंद घोष जैसे नेताओं ने राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गहराई दी, जिससे 'भारत माता' की भावना जन-मानस में गहराई से रची गई।[43]

शेखर बंधोपाध्याय के अनुसार, स्वदेशी आंदोलन ने "राष्ट्रवाद को *अभिजात्यवादी राजनीति* से *जन राजनीति* की ओर" ले जाने का महत्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि 1907 के सूरत विभाजन ने कांग्रेस को कमजोर किया, परंतु इसने उग्र राष्ट्रवाद और क्रांतिकारी विचारधारा को जन्म दिया। महात्मा गांधी ने बाद में स्वदेशी आंदोलन की इन अवधारणाओं- स्वदेशी, बहिष्कार और अहिंसक प्रतिरोध को और परिष्कृत कर उन्हें अखिल

भारतीय स्तर पर लागू किया। गांधीजी ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि स्वदेशी आंदोलन से उन्हें बहिष्कार और आत्मनिर्भरता की प्रेरणा मिली।[44]

आर.सी. मजूमदार; स्वदेशी आंदोलन को भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में एक निर्णायक मोड़ मानते थे। उनके अनुसार, स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को **सिद्धांत** से **व्यावहारिक कार्यवाही** की ओर ले जाकर उसकी प्रकृति और दिशा दोनों को स्थायी रूप से बदल दिया। मजूमदार का तर्क है कि स्वदेशी आंदोलन से पहले राष्ट्रवाद मुख्य रूप से मध्यमार्गी नेताओं द्वारा संवैधानिक प्रार्थना-पत्र, प्रस्ताव और भाषणों तक सीमित था। यह एक **बौद्धिक और अभिजात्यवादी** आंदोलन था, जिसमें जनता की व्यापक भागीदारी नहीं थी।[45] लेकिन 1905 के स्वदेशी आंदोलन ने राष्ट्रवाद को **जन-आंदोलन** का रूप दिया। बहिष्कार, स्वदेशी उद्योग, राष्ट्रीय शिक्षा, सांस्कृतिक जागरण और प्रतीकात्मक प्रतिरोध के माध्यम से इसने राष्ट्रवाद को व्यावहारिक धरातल पर उतारा। मजूमदार के शब्दों में, यह आंदोलन *"moderate phase की समाप्ति और extremist phase की शुरुआत"* था, जिसमें निष्क्रिय प्रतिरोध आर्थिक स्वावलंबन और सशक्त विरोध की नीति अपनाई गई।[46]

मजूमदार विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि *स्वदेशी आंदोलन ने राष्ट्रवाद को बंगाल की सीमा लांघकर पूरे भारत में फैलाया और उसे अखिल भारतीय चरित्र प्रदान किया।* उन्होंने स्वदेशी आंदोलन को "आरंभिक विद्रोह"(incipient rebellion) की संज्ञा दी, जिसमें जनता ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध का हथियार अपनाया। उनके अनुसार, इस आंदोलन ने न केवल ब्रिटिश आर्थिक शोषण को चुनौती दी, बल्कि भारतीयों में आत्मविश्वास, संगठन शक्ति और स्वराज की मांग को जागृत किया, जो बाद के आंदोलनों की आधारशिला बनी। उनके मत में स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रवाद को मात्र शिकायतों से उठाकर सक्रिय संघर्ष, आत्मनिर्भरता और जन-जागरण की ऊंचाई प्रदान की, यही कारण है कि इसे आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जनक माना जाता है, जिसका प्रभाव भारत की आजादी तक चलने वाले राष्ट्रिय आन्दोलन पर देखा जा सकता है।[47] भले ही यह आन्दोलन पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ, लेकिन इसने भारतीयों में आत्मविश्वास और एकता की भावना जाग्रत की जो आने वाले आंदोलनों में बलवती होती गयी। स्वदेशी की अवधारणा तो आज भी आर्थिक आत्मनिर्भरता (आत्मनिर्भर भारत) की चर्चाओं में प्रासंगिक बनी हुई है।

सन्दर्भ-

[1] Gait, E. A. (1902). *Census of India, 1901: Volume VI - Bengal* (Report). Bengal Secretariat Press.

[2] Chandra, B. (1989). *India's Struggle for Independence, 1857-1947.* Penguin Books.

[3] McLane, J. R. (1965). The Decision to Partition Bengal in 1905. *The Indian Economic & Social History Review, 2*(3), 221–237.

[4] Maddison, A. (2007). *Contours of the World Economy 1-2030 AD: Essays in Macro-Economic History.* Oxford University Press.

[5] Bandyopadhyay, S. (2014). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India.* Orient Blackswan.

[6] Roy, T. (2011). *The Economic History of India 1857–1947.* Oxford University Press.

[7] Kopf, D. (1969). *British Orientalism and the Bengal Renaissance: The Dynamics of Indian Modernization 1773-1835.* University of California Press.

[8] Broomfield, J. H. (1968). *Elite Conflict in a Plural Society: Twentieth-Century Bengal.* University of California Press.

[9] Bandyopadhyay, S. (2014). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India.* Orient Blackswan

[10] Curzon, Lord. (1905, February 2). *Letter from Lord Curzon to St. John Brodrick (Secretary of State for India).* Curzon Papers, Mss. Eur. F. 111/164, British Library (India Office Records), London.

[11] Bandyopadhyay, S. (2014). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India.* Orient Blackswan

[12] McLane, J. R. (1965). The Decision to Partition Bengal in 1905. *The Indian Economic & Social History Review, 2*(3), 221–237.

[13] Fraser, A. H. L. (1912). *Among Indian Rajahs and Ryots: A Civil Servant's Recollections & Impressions of Thirty-Seven Years of Work and Sport in the Central Provinces and Bengal.* Seeley & Co.

[14] Gait, E. A. (1902). *Census of India, 1901: Volume VI - Bengal* (Report). Bengal Secretariat Press.

[15] Sarkar, S. (1973). *The Swadeshi Movement in Bengal, 1903–1908.* People's Publishing House.

[16] Chandra, B. (1989). *India's Struggle for Independence, 1857-1947.* Penguin Books.

[17] McLane, J. R. (1965). The Decision to Partition Bengal in 1905. *The Indian Economic & Social History Review, 2*(3), 221–237.

[18] Ibid.

[19] Bandyopadhyay, S. (2014). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India.* Orient Blackswan

[20] Gordon, L. A. (1974). Bengal: The Nationalist Movement 1876-1940. *Journal of Asian Studies, 33*(4), 711-732.

[21] Seal, A. (1973). Imperialism and Nationalism in India. *Modern Asian Studies, 7*(3), 321-347.

[22] Bandyopadhyay, S. (2014). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India.* Orient Blackswan

[23] Banerjea, S. (1925). *A Nation in Making: Being the Reminiscences of Fifty Years of Public Life.* Oxford University Press.

[24] Sarkar, S. (1973). *The Swadeshi Movement in Bengal, 1903–1908.* People's Publishing House.

[25] Ibid.

[26] Sri Aurobindo. (2002). *Bande Mataram: Political Writings and Speeches (1890–1908)* (Vols. 6-7). Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

[27] Sarkar, S. (1973). *The Swadeshi Movement in Bengal, 1903-1908.* People's Publishing House.

[28] Chandra, B., Mukherjee, M., Mukherjee, A., Panikkar, K. N., & Mahajan, S. (1989). *India's Struggle for Independence.* Penguin Books.

[29] Aurobindo, S. (2002). *Bande Mataram: Political Writings and Speeches (1890–1908)* (Vols. 6-7). Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

[30] Sarkar, S. (1973). *The Swadeshi Movement in Bengal, 1903-1908.* People's Publishing House.

[31] Ibid.

[32] Ibid.

[33] Chandra, B., Mukherjee, M., Mukherjee, A., Panikkar, K. N., & Mahajan, S. (1989). *India's Struggle for Independence.* Penguin Books.

[34] Sarkar, S. (1973). *The Swadeshi Movement in Bengal, 1903-1908.* People's Publishing House.

[35] Chandra, B. (1989). *India's Struggle for Independence, 1857-1947.* Penguin Books.

[36] Bandyopadhyay, S. (2004). *From Plassey to Partition: A History of Modern India.* Orient BlackSwan.

[37] Ibid.

[38] Chandra, B. (1989). *India's Struggle for Independence, 1857-1947.* Penguin Books.

[39] Ibid

[40] McLane, J. R. (1970). The Surat Congress split: A study of the differences between moderates and extremists in the Indian National Congress. *The Journal of Asian Studies, 29*(4), 861-877.

[41] Heehs, P. (1992). Foreign influences on Bengali revolutionary nationalism, 1902-1908. *Modern Asian Studies, 26*(3), 525-556.

[42] Pal, B. C. (1958). *Swadeshi and Swaraj. Yugayatri Prakashak.* (Original work published 1907).

[43] Lipner, J. J. (2007). The golden Bengal of Rohit and Rabindranath: A study in nationalism. *Modern Asian Studies, 41*(3), 565-610.

[44] Owen, H. F. (1971). Towards nation-wide agitation and organization: The Home Rule Leagues, 1915–18. *Soundings in Modern South Asian History,* 159-195.

[45] Majumdar, R. C. (1963). *History of the Freedom Movement in India* (Vol. II). Firma K. L. Mukhopadhyay.

[46] Ibid.

[47] Ibid.

Manuscript Timeline
Submitted : *January 28, 2026* ***Accepted :*** *February 10, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

भारतीय लोकतांत्रिक विमर्श में जयप्रकाश की भूमिका

डॉ. देवेश रंजन[1]

सारांश

भारत की सांस्कृतिक अखंडता और सभ्यतागत निरंतरता ने भारतीय राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया है। प्रस्तुत लेख में जयप्रकाश नारायण (जे.पी.) की 'संपूर्ण क्रांति' की अवधारणा का विश्लेषण भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था, उसके संकटों तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन के संदर्भ में किया गया है। लेख यह प्रतिपादित करता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में स्थापित संवैधानिक लोकतंत्र विविधताओं, असमानताओं और सामाजिक चुनौतियों के कारण अनेक अंतर्विरोधों से ग्रस्त हो गया था। जे.पी. ने पश्चिमी संसदीय लोकतंत्र की सीमाओं की आलोचना करते हुए लोकतंत्र को अधिक सहभागी, नैतिक और विकेंद्रीकृत बनाने पर बल दिया। 1974 के बिहार छात्र आंदोलन को उन्होंने व्यापक सामाजिक परिवर्तन के माध्यम के रूप में 'संपूर्ण क्रांति' का स्वरूप प्रदान किया। यह अवधारणा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, बौद्धिक और शैक्षिक परिवर्तन का समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जिसमें गांधीवादी अहिंसा, सर्वोदय तथा लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांत निहित हैं।

मुख्य शब्द : *जयप्रकाश नारायण, संपूर्ण क्रांति, भारतीय लोकतंत्र, सर्वोदय, विकेंद्रीकरण, गांधीवादी चिंतन।*

एक महान ऐतिहासिक सभ्यता के रूप में भारत की सांस्कृतिक अखंडता एवं निरंतरता आज भी बनी हुई है। भारत की इस सांस्कृतिक अखंडता एवं निरंतरता का मूल कारण इसके सांस्कृतिक प्रतीकों एवं आध्यात्मिकता का व्यापक प्रसार रहा है। भारत को खंडित होने से बचाने में इसकी ऐतिहासिक संस्कृति सुदीर्घ परंपरा और इसकी एकजुटता ने विशेष भूमिका निभाई है।

ब्रिटिश राज के शासन से मुक्ति प्राप्त होने के बाद भारत जैसे प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति वाले राष्ट्र को अपना राजनीतिक भविष्य निर्धारित करने की एक कठिन चुनौती थी। भारत को अपना राजनीतिक विकास इस प्रकार से करना था कि उस व्यवस्था में सदियों पुरानी विविधताएं और परंपराओं तथा आधुनिकता के श्रेष्ठ एवं उपयुक्त तत्वों का समुचित समन्वय हो सके। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए संवैधानिक लोकतंत्र की व्यवस्था को अपनाया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् लागू की गई यह संवैधानिक लोकतांत्रिक व्यवस्था उस समय की राजनीतिक चेतना एवं वैश्विक स्तर पर लोकतांत्रिक व्यवस्था की दृष्टि की उपज थी। परंतु भारतीय राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में इसे लागू करना अत्यंत कठिन कार्य था। एक नव स्वतंत्र राष्ट्र जहाँ क्षेत्रीय, जातीय, धार्मिक

[1] सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार).

एवं भाषाई विविधताएं थीं, वहीं दूसरी तरफ आर्थिक विषमता, गरीबी, अशिक्षा एवं सामाजिक पिछड़ेपन का बोलबाला था। ऐसी स्थिति में एक निश्चित समय सीमा में आधुनिक लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में प्रगति करना एक बड़ी चुनौती थी।

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने आदर्शों को प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी यात्रा आरंभ की। परंतु लगभग दो दशकों के बाद ही भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की वैचारिक एवं सैद्धांतिक चेतना में कमी आने लगी और इसकी कमजोरियां सामने आने लगीं। जयप्रकाश जी ने शुरुआत में ही पश्चिमी लोकतांत्रिक व्यवस्था की कमियों को उजागर करना प्रारंभ कर दिया था। अपने लेख 'ए प्ली फॉर रिकंस्ट्रक्शन ऑफ इंडियन पॉलिटी' में जे.पी. ने पश्चिमी लोकतांत्रिक व्यवस्था की आलोचना की है। उनके अनुसार इस व्यवस्था में लोगों को नियंत्रित किया जाता है तथा वह लोगों को व्यवस्था में खुलकर भाग नहीं लेने देता है। जे.पी. ने संसदीय प्रजातंत्र को दलविहीन रूप में देखने का प्रयास किया है, यद्यपि की संसदीय लोकतंत्र की कमियों के लिए वे केवल दलों को ही दोषी नहीं मानते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि 1959 ई० के बाद जिस दलविहीन लोकतंत्र की बात जे.पी. कर रहे थे उसमें बाद में उन्होंने कई कड़िया जोड़ी और 1974 के छात्र आंदोलन तक उन्हें यह तथय समझ में आ गया था की दल विहीन लोकतंत्र भविष्य की बात है। यही कारण था कि उन्होंने इस आंदोलन को पार्टी विहीन लोकतंत्र के साथ नहीं जोड़ा।

भारतीय राजनीति के विकास क्रम में 1970 का दशक विशेष स्थान रखता है। उस समय के भारतीय समाज में आंतरिक असंतोष व्याप्त होने लगा था। चुनाव के बाद कांग्रेस की सत्ता स्थिर हो गई थी। भ्रष्टाचार एवं महंगाई से आम लोगों का जनजीवन बुरी तरह प्रभावित हो गया था। परंतु सत्ता की तरफ से इन समस्याओं का उचित समाधान नहीं किया गया। उपरोक्त परिस्थितियों में जन आंदोलन का होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। इन्हीं परिस्थितियों में 1974 में गुजरात के छात्रों ने छात्रावास में मेस का खाना महंगा होने के कारण आंदोलन किया। जे.पी. भी इस आंदोलन को समर्थन देने के लिए गुजरात गए। तत्पश्चात् बिहार के नौजवानों ने भी उनसे अपने छात्र आंदोलन का नेतृत्व करने का आग्रह किया, जिसे उन्होंने आरंभ में स्वीकार नहीं किया, परंतु बाद में उन्होंने नेतृत्व के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की थी। उनकी यह मान्यता थी कि इस छात्र आंदोलन के माध्यम से देश की राजनीतिक जड़ता को समाप्त किया जा सकता है और व्यवस्था परिवर्तन किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बिहार के इस छात्र आंदोलन को एक व्यापक आयाम दिया और उसे संपूर्ण क्रांति का आंदोलन बनाया।

जे.पी. के अनुसार संपूर्ण क्रांति सात क्रांतियों का योग होगी। यह सात क्रांतियाँ हैं- सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, बौद्धिक और शैक्षिक। उनके अनुसार इस संख्या को कम या अधिक किया जा सकता है। उनके लिए यह संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं थी, बल्कि महत्त्वपूर्ण यह है कि क्रांति अपने अधीन जीवन के सभी पक्षों को समाहित करे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि आज का भारत जिन कठिनाइयों का सामना कर रहा है, उसका निराकरण केवल सत्ता परिवर्तन द्वारा संभव नहीं है, अपितु जीवन के सभी पक्षों को समाहित करते हुए आमूल परिवर्तन द्वारा ही इसका समाधान संभव है। जे.पी. की संपूर्ण क्रांति का संबंध न केवल

राजनीतिक तथा आर्थिक संरचना में परिवर्तन से था, बल्कि उसका संबंध सामाजिक संस्थाओं की संरचना में भी व्यापक परिवर्तन से था। इसके अतिरिक्त जे.पी. अपनी संपूर्ण क्रांति की अवधारणा के माध्यम से शिक्षा पद्धति के स्वरूप में भी परिवर्तन लाना चाहते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि संपूर्ण क्रांति एक प्रकार की सांस्कृतिक क्रांति थी जो मानवीय जीवन के प्रत्येक पक्ष को अपने में समाहित करने का उद्देश्य रखती थी।

जे.पी. की संपूर्ण क्रांति की अवधारणा पर गांधीवादी चिंतन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उन्होंने अपने लेखों में संपूर्ण क्रांति का प्रयोग भारत में सर्वोदय आंदोलन के संदर्भ में भी किया। एक अवसर पर जे.पी. ने खुद स्पष्ट किया है कि संपूर्ण क्रांति और सर्वोदय में कोई भेद नहीं है। भेद तो यह है कि सर्वोदय यदि लक्ष्य है तो संपूर्ण क्रांति इस लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन है। इसके अतिरिक्त जे.पी. ने अपने लेख एवं भाषणों में यह कई बार बताने का प्रयास किया है कि संपूर्ण क्रांति केवल अहिंसक विधि से ही लाई जा सकती है। उनका मानना था कि हिंसा के माध्यम से लाई गई क्रांति अपने लक्ष्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेगी, परंतु उसमें स्थायित्व नहीं होगा। इसके विपरीत अहिंसा से की गई क्रांति के परिणाम विलंब से प्राप्त होंगे, परंतु उसमें स्थायित्व होगा। इसके पीछे उन्होंने कारण बताया कि प्रायः सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी होती है। 1964-65 के अवधि के अपने भाषणों एवं लेखों के माध्यम से जे.पी. ने कई बार यह बताने का प्रयत्न किया कि संपूर्ण क्रांति केवल अहिंसक रास्ते से ही लाई जा सकती है। उनके अनुसार राज्य के प्रजातांत्रिक स्वरूप को यथावत बने रहना चाहिए। उनका मत था कि संपूर्ण क्रांति का उद्देश्य राज्य के प्रजातांत्रिक स्वरूप को मजबूती प्रदान करना है, जिससे कि आमजन उसमें प्रत्यक्ष रूप से अपनी सहभागिता कर सके।

जे.पी. की इस संपूर्ण क्रांति की अवधारणा में न केवल मार्क्स और गांधी के विचारों का समन्वय हुआ, बल्कि पाश्चात्य प्रजातंत्र के सिद्धांत के कुछ अंश भी दिखाई देते हैं। यद्यपि कि वे लोकतंत्र के संबंध में व्यक्तिगत रूप से यह मानते थे कि लोकतंत्र को दलविहीन होना चाहिए, परंतु तात्कालिक परिस्थितियों में यह संभव दिखाई नहीं पड़ रहा था, अतः उन्होंने इसे भविष्य का लक्ष्य माना।

वस्तुतः जे.पी. की संपूर्ण क्रांति की अवधारणा लोकतंत्र को और अधिक मजबूत बनाने का भी एक साधन थी। यद्यपि कि गांधी और मार्क्स की भांति जे.पी. की इस अवधारणा की भी यूटोपिया मानकर अलोचना की जाती रही है। लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि लोकतंत्र को और अधिक विश्वसनीय एवं सुदृढ़ तभी बनाया जा सकता है, जबकि हम जे.पी. के द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण करें। वस्तुतः जे.पी. की संपूर्ण क्रांति का एक प्रमुख लक्ष्य आर्थिक एवं राजनीतिक विकेंद्रीकरण भी था। जे.पी. ने आर्थिक एवं राजनीतिक विकेंद्रीकरण के लिए पंचायती राज को सर्वाधिक महत्त्व दिया। वस्तुतः जे.पी. एक ऐसी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, जो समानता, स्वतंत्रता पर आधारित हो तथा आदमी को आदमी से जोड़ सके।

निष्कर्ष-

निष्कर्षतः जे.पी. की संपूर्ण क्रांति की अवधारणा केवल राजनीतिक परिवर्तन का कार्यक्रम नहीं थी, बल्कि भारतीय समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, शिक्षा और नैतिक जीवन के व्यापक पुनर्निर्माण की एक समग्र

दृष्टि थी। यह अवधारणा लोकतंत्र को अधिक सहभागी, विकेंद्रित और मानवीय बनाने का प्रयास करती है। गांधीवादी अहिंसा, सर्वोदयी चिंतन तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के समन्वय पर आधारित यह विचार आज भी भारतीय लोकतंत्र की चुनौतियों के संदर्भ में प्रासंगिक प्रतीत होता है। सामाजिक असमानता, भ्रष्टाचार और राजनीतिक केंद्रीकरण जैसी समस्याओं के समाधान हेतु जे.पी. की संपूर्ण क्रांति लोकतांत्रिक पुनर्जागरण का एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रस्तुत करती है।

संदर्भ ग्रंथ-

- शिवदयाल (संपा.). (2024). *जे.पी. आंदोलन और भारतीय लोकतंत्र*. प्रलेक प्रकाशन.
- गुहा, रामचंद्र. (2012). *भारत: नेहरू के बाद*. पेंगुइन बुक्स.
- आचार्य, नंदकिशोर. (2012). *सभ्यता का विकल्प: गांधी-दृष्टि का पुनराविष्कार*. वाग्देवी प्रकाशन.
- कोठारी, रजनी. (2020). *भारत में राजनीति: कल और आज* (अभय कु. दुबे, प्रस्तुती एवं संपा.). वाणी प्रकाशन.

Manuscript Timeline
Submitted : *February 07, 2026* ***Accepted :*** *February 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

हरिशंकर परसाई के साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यंग्य

ओम प्रकाश[1]

सारांश

हरिशंकर परसाई हिंदी साहित्य के ऐसे विशिष्ट व्यंग्यकार हैं जिन्होंने व्यंग्य को केवल हास्य या मनोरंजन का साधन न मानकर उसे सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक विवेक का सशक्त माध्यम बनाया। उनका व्यंग्य समकालीन भारतीय समाज की जटिलताओं और अंतर्विरोधों को उजागर करता है। परसाई के साहित्य में सामाजिक विसंगतियाँ, पाखंड, अवसरवाद, सत्ता-संरचनाएँ, मध्यवर्गीय मानसिकता, नैतिक पतन तथा सांस्कृतिक द्वंद्व तीखे और बौद्धिक व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। उनकी भाषा सरल, संवादात्मक और व्यंजक है, जिसके माध्यम से वे पाठक को हँसाते हुए गहन आत्ममंथन के लिए प्रेरित करते हैं। परसाई धर्म, राजनीति, नौकरशाही, शिक्षा व्यवस्था और सांस्कृतिक रूढ़ियों पर तीखा प्रहार करते हुए सामाजिक यथार्थ को निर्भीकता से सामने रखते हैं। उनका व्यंग्य केवल आलोचना तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसमें सुधार की चेतना और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता निहित रहती है। इस शोधपत्र का उद्देश्य परसाई के चयनित व्यंग्य-निबंधों एवं रचनाओं के आधार पर उनके सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यंग्य की प्रकृति का विश्लेषण करना, उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता को रेखांकित करना तथा समकालीन संदर्भ में उनके व्यंग्य की प्रासंगिकता और प्रभाव को स्पष्ट करना है। यह अध्ययन यह भी प्रतिपादित करता है कि हरिशंकर परसाई का साहित्य आधुनिक हिंदी व्यंग्य परंपरा में जनपक्षधर चेतना और सामाजिक आलोचना का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

बीज शब्द:- *हरिशंकर परसाई, हिंदी व्यंग्य, सामाजिक व्यंग्य, सांस्कृतिक व्यंग्य, मध्यवर्ग, पाखंड, समकालीन समाज, जनचेतना।*

प्रस्तावना-

हिंदी साहित्य की परंपरा में व्यंग्य को लंबे समय तक केवल हास्य, मनोरंजन या हल्की-फुल्की टिप्पणी के रूप में देखा जाता रहा। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र जैसे रचनाकारों ने व्यंग्य को सामाजिक चेतना से जोड़ा, किंतु उसे एक स्वतंत्र, गंभीर और वैचारिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य स्वतंत्रता के बाद के दौर में हुआ। इस संदर्भ में हरिशंकर परसाई का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण और निर्णायक है। परसाई ने व्यंग्य को केवल हँसाने का साधन नहीं माना, बल्कि उसे समाज की विसंगतियों, सत्ता के दुरुपयोग, सांस्कृतिक पाखंड और नैतिक पतन को उजागर करने का सशक्त माध्यम बनाया। उनके साहित्य

[1] शोधार्थी, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ. शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय लखनऊ (उ.प्र.)-226017. ई-मेल.- sarjuomprakash@gmail.com

में व्यंग्य एक गहरी वैचारिक प्रक्रिया है, जो पाठक को केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि आत्ममंथन और असहमति के लिए प्रेरित करती है।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज ने जिन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का अनुभव किया, उनमें आशा और मोहभंग दोनों ही निहित थे। एक ओर लोकतंत्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और समानता जैसे आदर्श सामने थे, तो दूसरी ओर सत्ता की भूख, भ्रष्टाचार, अवसरवाद, सांप्रदायिकता और नैतिक विघटन तेजी से बढ़ रहे थे। परसाई का साहित्य इसी द्वंद्व का जीवंत दस्तावेज़ है। वे उन रचनाकारों में से हैं जिन्होंने स्वतंत्र भारत की वास्तविकताओं को बिना किसी आडंबर के, पूरी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया। उनका व्यंग्य सत्ता और समाज दोनों से सवाल करता है और इस प्रक्रिया में किसी भी प्रकार के समझौते को स्वीकार नहीं करता[1]।

हरिशंकर परसाई के व्यंग्य की मूल शक्ति उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता में निहित है। वे मानते थे कि साहित्यकार का दायित्व केवल सौंदर्य रचना नहीं, बल्कि समाज के यथार्थ को उजागर करना भी है। उनके व्यंग्य में सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था, लोकतंत्र की विडंबनाएँ, नौकरशाही की संवेदनहीनता, भ्रष्टाचार, मध्यवर्गीय मानसिकता और आम जनता के शोषण का तीखा चित्रण मिलता है। *एक कंपकंपाता हुआ गणतंत्र*, *विकलांग राजनीति*, *भेड़ और भेड़िये* जैसी रचनाएँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि परसाई का व्यंग्य स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक संरचना की गंभीर आलोचना है। वे दिखाते हैं कि कैसे लोकतंत्र कई बार केवल औपचारिकताओं, उत्सवों और भाषणों तक सीमित रह जाता है, जबकि उसकी आत्मा—जनहित और सामाजिक न्याय—लगातार कमजोर होती जाती है। सामाजिक व्यंग्य के साथ-साथ परसाई का सांस्कृतिक व्यंग्य भी उतना ही सशक्त और विचारोत्तेजक है। वे भारतीय समाज की परंपराओं, धार्मिक आडंबर, विकृत श्रद्धा और खोखली नैतिकता पर तीखा प्रहार करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति और धर्म का उद्देश्य मनुष्य को अधिक मानवीय और विवेकशील बनाना होना चाहिए, किंतु जब ये सत्ता और स्वार्थ के उपकरण बन जाते हैं, तब समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ने लगते हैं। *विकलांग श्रद्धा का दौर* जैसी रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि विवेकहीन श्रद्धा और यांत्रिक परंपराएँ समाज को नैतिक रूप से अपंग बना देती हैं। परसाई धर्म और राजनीति के गठजोड़ को लोकतंत्र और सामाजिक सौहार्द के लिए अत्यंत घातक मानते हैं[2]।

परसाई के व्यंग्य की एक प्रमुख विशेषता उसकी भाषा और शैली है। वे जटिल वैचारिक मुद्दों को अत्यंत सरल, संवादात्मक और प्रभावशाली भाषा में प्रस्तुत करते हैं। उनकी भाषा में न तो कृत्रिमता है और न ही अलंकरण का बोझ। यही कारण है कि उनका व्यंग्य व्यापक पाठक वर्ग तक पहुँचता है। परसाई का हास्य अक्सर कड़वा होता है, किंतु उसी कड़वाहट में सामाजिक सत्य निहित रहता है। वे पाठक को हँसाते हुए असहज करते हैं और उसे अपने आस-पास की वास्तविकताओं पर पुनर्विचार करने के लिए विवश करते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य हरिशंकर परसाई के साहित्य में निहित सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यंग्य का समग्र अध्ययन करना है।

इस अध्ययन में परसाई के व्यंग्य को दो प्रमुख आयामों—सामाजिक व्यंग्य तथा सांस्कृतिक व्यंग्य—के अंतर्गत विश्लेषित किया गया है। सामाजिक व्यंग्य के अंतर्गत लोकतंत्र, सत्ता, राजनीति, भ्रष्टाचार, मीडिया और जनता के शोषण से संबंधित रचनाओं का अध्ययन किया गया है, जबकि सांस्कृतिक-धार्मिक व्यंग्य के अंतर्गत परंपरा, श्रद्धा, धर्म, सांप्रदायिकता और नैतिकता से जुड़े प्रश्नों पर केंद्रित रचनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यह शोधपत्र इस तथ्य को रेखांकित करता है कि हरिशंकर परसाई का व्यंग्य केवल अपने समय तक सीमित नहीं है, बल्कि इक्कीसवीं सदी में भी उतना ही प्रासंगिक है। आज जब लोकतंत्र, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सामाजिक सौहार्द और नैतिक मूल्यों पर गंभीर संकट दिखाई देता है, तब परसाई का साहित्य हमें चेतावनी देता है और आत्मालोचना के लिए प्रेरित करता है। उनका व्यंग्य पाठक को निष्क्रिय उपभोक्ता नहीं, बल्कि जागरूक नागरिक बनने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार हरिशंकर परसाई का साहित्य हिंदी व्यंग्य परंपरा में सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का एक स्थायी और प्रभावशाली दस्तावेज़ सिद्ध होता है।

परसाई के सामाजिक व्यंग्य-

सामाजिक विश्लेषण का मूल उद्देश्य समाज की संरचनाओं, उसकी जीवन-गुणवत्ता, सामाजिक सेवाओं, सत्ता-संबंधों और सामाजिक न्याय की स्थिति का मूल्यांकन करना है। यह विश्लेषण अतीत और वर्तमान के संबंधों को समझते हुए उन प्रक्रियाओं को उजागर करता है जिनके माध्यम से समाज शहरीकरण, प्रवासन, पहचान निर्माण, जातीय-सांस्कृतिक टकराव और राजनीतिक चेतना के विभिन्न रूपों से गुजरता है। हरिशंकर परसाई का व्यंग्य-साहित्य इसी सामाजिक विश्लेषण की एक सशक्त, बौद्धिक और कलात्मक अभिव्यक्ति है। उन्होंने अपने व्यंग्यों के माध्यम से भारतीय लोकतंत्र, राजनीति, सत्ता, युवाओं, शिक्षा, भ्रष्टाचार और नैतिक पतन जैसे मुद्दों को अत्यंत निर्भीकता से उजागर किया है।

परसाई का सामाजिक व्यंग्य मुख्यतः भारतीय लोकतंत्र की उन विडंबनाओं पर केंद्रित है, जहाँ संविधान में निहित समाजवाद, समानता और न्याय के आदर्श व्यवहार में खोखले सिद्ध होते दिखाई देते हैं। *एक कंपकंपाता हुआ गणतंत्र* (या *ठिठुरता हुआ गणतंत्र*) में वे गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय पर्व की औपचारिकता और आडंबर पर तीखा प्रहार करते हैं[3]। गणतंत्र दिवस, जो जनता की संप्रभुता और लोकतांत्रिक चेतना का प्रतीक होना चाहिए, परसाई के यहाँ एक ठंडा, जड़ और कंपकंपाता हुआ उत्सव बन जाता है। सत्ता में बैठे नेता इस दिन को आत्ममंथन के अवसर के रूप में नहीं, बल्कि रस्मी परेड और भाषणों तक सीमित कर देते हैं। मंत्री द्वारा यह कहना कि "इतने बड़े सूरज को सामने लाने में समय लगेगा, हमें कम से कम सौ साल की सरकार दीजिए," लोकतांत्रिक मूल्यों का घोर उपहास है। यह कथन सत्ता-लालसा, राजनीतिक अहंकार और जनता के प्रति असंवेदनशीलता का प्रतीक बन जाता है।

परसाई इस व्यंग्य के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय लोकतंत्र एक जीवंत जन-प्रणाली न रहकर दिखावटी उत्सवों और खोखले भाषणों तक सिमट गया है। लोकतंत्र की आत्मा, जनभागीदारी, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता, धीरे-धीरे सत्ता के हितों में कुचल दी गई है। गणतंत्र दिवस की झांकियाँ विकास की एक कृत्रिम और सजावटी तस्वीर प्रस्तुत करती हैं, जिसमें बाढ़, गरीबी, बेरोज़गारी, भुखमरी और सामाजिक

विषमता जैसे यथार्थ पूरी तरह अनुपस्थित रहते हैं। प्रत्येक राज्य अपनी सांस्कृतिक विरासत और योजनाओं का प्रदर्शन करता है, किंतु पिछले वर्ष की वास्तविक उपलब्धियों और विफलताओं को जानबूझकर छिपा लिया जाता है। यह स्थिति लोकतंत्र में पारदर्शिता के गहरे अभाव को उजागर करती है।

परसाई का व्यंग्य केवल सत्ता तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह समाज की उन शक्तियों को भी कटघरे में खड़ा करता है जो लोकतंत्र को भीतर से कमजोर करती हैं। *आवारा भीड़ के ख़तरे* में वे आधुनिक समाज की उस दिशाहीन, हताश और बेरोज़गार युवा भीड़ की चर्चा करते हैं, जो समाज के लिए सबसे बड़ा खतरा बन सकती है[4]। परसाई लिखते हैं कि दिशाहीन और नकारवादी युवाओं की यह भीड़ अत्यंत खतरनाक होती है, क्योंकि इसका उपयोग महत्वाकांक्षी और खतरनाक विचारधाराओं वाले लोग कर सकते हैं। इतिहास में नेपोलियन, हिटलर और मुसोलिनी ने इसी प्रकार की भीड़ का प्रयोग किया था। यह भीड़ धार्मिक उन्माद के पीछे चलने लगती है और थोड़े से उकसावे में विध्वंसक कार्यों में झोंक दी जाती है। परसाई की यह चेतावनी जून 1991 में लिखी गई थी, किंतु इक्कीसवीं सदी के तीसरे दशक में भी यह उतनी ही यथार्थपूर्ण प्रतीत होती है[5]।

यह व्यंग्य इस प्रश्न को जन्म देता है कि भारतीय राजनीति युवाओं के साथ क्या कर रही है। एक ओर युवाओं को "देश का भविष्य" कहा जाता है, दूसरी ओर उन्हें न तो शिक्षा, न रोजगार और न ही स्वस्थ वैचारिक दिशा दी जाती है। परिणामस्वरूप एक ऐसी आवारा भीड़ तैयार होती है, जो लोकतंत्र को सुदृढ़ करने के बजाय उसके विनाश का औजार बन सकती है। परसाई यहाँ केवल युवाओं की आलोचना नहीं करते, बल्कि नेताओं, शिक्षकों, माता-पिता और समूची सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं, जो इस स्थिति के लिए जिम्मेदार है। आपातकालीन दौर की पृष्ठभूमि में लिखी गई रचना *विकलांग राजनीति* परसाई के सामाजिक-राजनीतिक व्यंग्य का एक अत्यंत सशक्त उदाहरण है[6]। इस व्यंग्य में लोकतंत्र को लगभग अपंग अवस्था में चित्रित किया गया है। नागरिक अधिकारों का दमन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर रोक और सत्ता का निरंकुश रूप इस रचना में स्पष्ट रूप से उभरता है। लेखक की टूटी हुई टाँग को कांग्रेस और जनता पार्टी द्वारा राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया जाना राजनीति के अवसरवाद और अमानवीयता को उजागर करता है। चुनाव के समय ही लेखक और जनता "याद" आते हैं, और जैसे ही वे किसी के काम के नहीं रहते, उन्हें अपमानित कर दिया जाता है। यह स्थिति राजनीति के नैतिक पतन का सशक्त प्रतीक है।

परसाई यह भी दिखाते हैं कि लोकतंत्र में जनता और सत्ता के बीच का संबंध किस प्रकार शोषणकारी बन गया है। *भेड़ और भेड़िये* में आम जनता को 'भेड़' और चालाक नेताओं को 'भेड़िये' के रूप में चित्रित किया गया है[7]। जनता अंधविश्वास, भावनात्मक नारों और मीडिया-प्रचार के प्रभाव में नेताओं पर भरोसा करती है और अंततः ठगी जाती है। मीडिया, जो लोकतंत्र का प्रहरी होना चाहिए, सत्ता का प्रचारक बन जाता है। टेलीविजन और समाचार पत्र राजनीतिक विज्ञापनों पर निर्भर होकर सत्ताधारी वर्ग के हितों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार लोकतंत्र "जनता के लिए" की बजाय "जनता को मूर्ख बनाने की व्यवस्था" बनकर रह जाता है। भ्रष्टाचार परसाई के सामाजिक व्यंग्य का एक केंद्रीय विषय है। *इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर*[8] और *सदाचार की*

ताबीज जैसे व्यंग्यों में वे उस तंत्र को उजागर करते हैं जहाँ कानून और नैतिकता दोनों ही सत्ता और पैसे के सामने बौने हो जाते हैं[9]। इंस्पेक्टर मातादीन उन पुलिस अधिकारियों का प्रतिनिधि है, जो झूठी रिपोर्ट बनाकर बेगुनाहों को सजा दिलवा देते हैं। वर्षों बाद यदि किसी वकील या एनजीओ की मदद से वे निर्दोष साबित भी हो जाएँ, तो उनके जीवन के खोए हुए वर्ष वापस नहीं आ पाते। यह व्यंग्य भारतीय न्याय व्यवस्था की भयावह विडंबना को सामने लाता है। *सदाचार की ताबीज* में परसाई भ्रष्टाचार समाप्त करने की अवैज्ञानिक और पाखंडी कोशिशों पर तीखा कटाक्ष करते हैं। ठेकेदारी व्यवस्था खत्म करने के नाम पर ताबीज़ का सहारा लिया जाता है और ताबीज़ बनाने का ठेका भी दे दिया जाता है। जब इकतीस तारीख़ को कर्मचारी रिश्वत लेते पकड़ा जाता है, तो ताबीज़ से ही आवाज़ आती है, "आज इकतीस है, आज तो ले लो।" यह व्यंग्य दिखाता है कि सत्ता भ्रष्टाचार को समाप्त करने के बजाय उसे और अधिक संगठित कर देती है।

परसाई शिक्षा व्यवस्था को भी नहीं बख्शते। विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले प्रोफेसरों पर उनका व्यंग्य अत्यंत तीखा है। वे लिखते हैं कि छात्र अपने प्रोफेसरों के बारे में सब जानते हैं, उनकी गुटबंदी, पक्षपात, नैतिक पतन और छात्रों के शोषण को। ऐसे गुरुओं से छात्र क्रांति और नैतिकता के उपदेश कैसे स्वीकार करें? यह प्रश्न आज भी उतना ही प्रासंगिक है। छात्र भले ही अपने भविष्य के डर से चुप रहें, पर वे सब समझते हैं। इसी क्रम में परसाई पारिवारिक और सामाजिक पाखंड को भी उजागर करते हैं। "बड़े लड़के अपने पिता को भी जानते हैं", यह कथन उस कथनी-करनी के अंतर को दर्शाता है, जहाँ पिता ईमानदारी का उपदेश देता है, पर स्वयं घूस खाता है। यही स्थिति नेताओं की है, जो हर भाषण में युवाओं को चरित्रवान बनने का उपदेश देते हैं, जबकि स्वयं चरित्रहीन आचरण करते हैं। ऐसे समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना कैसे संभव है?

परसाई का निष्कर्ष अत्यंत मार्मिक है,"इस देश में जो जिसके लिए प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है।" समाजवाद, धर्म, नैतिकता, शिक्षा और लोकतंत्र, सभी को सत्ता और स्वार्थ की घेराबंदी ने जकड़ लिया है। समाजवाद बस्ती के बाहर टीले पर खड़ा है और उसे भीतर लाने के लिए समाजवादी आपस में ही यह तय कर रहे हैं कि उसका हाथ कौन पकड़ेगा। यह रूपक आज भी उतना ही सटीक है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और लोकतंत्र की बात तो बहुत होती है, पर वास्तव में सबसे अधिक घेराबंदी उसी की है। इस प्रकार हरिशंकर परसाई का सामाजिक-राजनीतिक व्यंग्य स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था का निर्भीक और प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वे सत्ता, समाज और व्यक्ति, तीनों को कठघरे में खड़ा करते हैं और पाठक को आत्ममंथन के लिए विवश करते हैं। उनका व्यंग्य केवल हँसाता नहीं, बल्कि चेताता है, झकझोरता है और लोकतंत्र को बचाने की जिम्मेदारी समाज पर डालता है।

परसाई के सांस्कृतिक व्यंग्य-

हरिशंकर परसाई का सांस्कृतिक एवं धार्मिक व्यंग्य भारतीय समाज की उस संरचना पर केंद्रित है जहाँ संस्कृति, परंपरा और नैतिकता अपने मूल मानवीय उद्देश्य से भटक चुकी हैं। परसाई के लिए संस्कृति कोई पवित्र, प्रश्नातीत या स्थिर अवधारणा नहीं है, बल्कि वह एक जीवंत सामाजिक प्रक्रिया है, जिसका मूल्यांकन विवेक, तर्क और मानवता के आधार पर किया जाना चाहिए। वे मानते हैं कि संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य को

अधिक संवेदनशील, न्यायप्रिय और मानवीय बनाना होना चाहिए, किंतु भारतीय समाज में संस्कृति अक्सर सत्ता, वर्चस्व और सामाजिक नियंत्रण का साधन बन गई है। इसी विकृति को परसाई अपने व्यंग्य के माध्यम से उजागर करते हैं।

परसाई के व्यंग्य साहित्य में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि क्या हमारी परंपराएँ वास्तव में नैतिक हैं या केवल आदत और भय के कारण जीवित हैं। वे दिखाते हैं कि परंपरा का प्रयोग अक्सर तर्क को दबाने और प्रश्न पूछने वालों को 'संस्कृति-विरोधी' घोषित करने के लिए किया जाता है। समाज में जो कुछ भी पीढ़ियों से चला आ रहा है, उसे सही मान लेने की प्रवृत्ति विकसित हो गई है। इस प्रक्रिया में संस्कृति का विवेकशील स्वरूप समाप्त हो जाता है और वह रूढ़ि में बदल जाती है। परसाई इस सांस्कृतिक जड़ता को समाज के बौद्धिक और नैतिक पतन का कारण मानते हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना *'विकलांग श्रद्धा का दौर'* इस सांस्कृतिक संकट की अत्यंत सशक्त अभिव्यक्ति है[10]। इस व्यंग्य में परसाई श्रद्धा की उस विकृत अवस्था को चित्रित करते हैं जहाँ सम्मान, आस्था और विनम्रता विवेक से कटकर यांत्रिक कर्मकांड बन जाते हैं। पैर छूना, घुटने टेकना, पद और उम्र के आधार पर अंधी श्रद्धा व्यक्त करना—ये सभी क्रियाएँ नैतिक मूल्य नहीं रह जातीं, बल्कि सामाजिक दबाव का रूप ले लेती हैं। परसाई व्यंग्यपूर्वक यह संकेत देते हैं कि श्रद्धा अब नैतिक गुणों से नहीं, बल्कि पद, शक्ति और वर्चस्व से जुड़ गई है। यह स्थिति समाज को नैतिक रूप से अपंग बना देती है, क्योंकि यहाँ सम्मान अर्जित नहीं किया जाता, बल्कि थोप दिया जाता है।

परसाई के अनुसार ऐसी विकृत श्रद्धा व्यक्ति की आत्मनिर्भर सोच को नष्ट कर देती है। जब मनुष्य बिना सोचे-समझे किसी को पूजनीय मान लेता है, तब वह अन्याय, भ्रष्टाचार और अनैतिकता को भी स्वीकार करने लगता है। इस प्रकार श्रद्धा सत्ता की सहयोगी बन जाती है। परसाई इस सांस्कृतिक यथार्थ को अत्यंत सरल किंतु तीखे व्यंग्य के माध्यम से सामने लाते हैं और पाठक को यह सोचने पर विवश करते हैं कि क्या श्रद्धा का अर्थ विवेकहीन समर्पण होना चाहिए। धार्मिक संरचनाओं पर परसाई का व्यंग्य विशेष रूप से तीखा और प्रासंगिक है। वे धर्म को आध्यात्मिक अनुभव और नैतिक अनुशासन के बजाय राजनीतिक और आर्थिक हितों से जुड़ा हुआ दिखाते हैं। उनके व्यंग्य में धर्म सत्ता का सबसे प्रभावी उपकरण बनकर उभरता है। गाय, मंदिर, धर्मग्रंथ और धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग जनता को भावनात्मक रूप से नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। परसाई स्पष्ट करते हैं कि जब धर्म राजनीति से जुड़ता है, तब वह मानवीय करुणा के स्थान पर घृणा और हिंसा को जन्म देता है।

बीसवीं सदी में गाय का प्रश्न आध्यात्मिक से अधिक राजनीतिक बन गया। परसाई इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए बताते हैं कि गाय का उपयोग धार्मिक आस्था के बजाय चुनावी लाभ और सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के लिए किया गया। गाय के नाम पर हिंसा, लिंचिंग और सामाजिक विभाजन को वे लोकतंत्र और मानवता दोनों के लिए घातक मानते हैं। उनके अनुसार धर्म का यह रूप न तो आध्यात्मिक है और न ही नैतिक; यह केवल सत्ता की भूख को संतुष्ट करने का साधन है। परसाई के व्यंग्य में सांप्रदायिकता भारतीय समाज की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विडंबना के रूप में उभरती है। वे दिखाते हैं कि कैसे धर्म के नाम पर समाज को 'हम' और 'वे'

में बाँट दिया जाता है[11]। धार्मिक पहचान मनुष्य की संपूर्ण पहचान पर हावी हो जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति का नैतिक विवेक नष्ट हो जाता है और वह भीड़ का हिस्सा बन जाता है। परसाई मानते हैं कि सांप्रदायिकता केवल धार्मिक समस्या नहीं है, बल्कि यह एक गहरी सांस्कृतिक और राजनीतिक रणनीति है, जिसका उद्देश्य सत्ता को स्थायी बनाना है। उनके व्यंग्य में यह भी स्पष्ट होता है कि धार्मिक उन्माद सबसे अधिक उन लोगों को प्रभावित करता है जो सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक रूप से असुरक्षित होते हैं। धर्म उन्हें पहचान, गौरव और उद्देश्य का भ्रम देता है। परसाई इस भ्रम को तोड़ते हैं और दिखाते हैं कि धार्मिक राजनीति अंततः उन्हीं लोगों का शोषण करती है, जिनके नाम पर वह खड़ी होती है। इस प्रकार उनका व्यंग्य केवल आलोचनात्मक नहीं, बल्कि चेतावनीपूर्ण भी है।

परसाई का सांस्कृतिक व्यंग्य नैतिकता की उस दोहरी व्यवस्था को भी उजागर करता है, जहाँ उपदेश और आचरण के बीच गहरा अंतर है। समाज के तथाकथित सम्मानित लोग—नेता, गुरु, धर्माचार्य—ऊँची नैतिक बातें करते हैं, किंतु उनके कर्म इन उपदेशों के विपरीत होते हैं। परसाई इस कथनी-करनी के अंतर को व्यंग्य का मुख्य विषय बनाते हैं। उनके अनुसार नैतिकता का सबसे बड़ा संकट यही है कि वह भाषणों में जीवित है, जीवन में नहीं। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि संस्कृति और धर्म का यह विकृत रूप नई पीढ़ी को भ्रमित करता है। युवाओं को आदर्शवाद का उपदेश दिया जाता है, जबकि समाज स्वयं अनैतिक आचरण से भरा होता है। इस विरोधाभास के कारण युवा या तो निराश हो जाते हैं या उग्र विचारधाराओं का शिकार बनते हैं। परसाई का व्यंग्य इस स्थिति की सामाजिक जिम्मेदारी को सामने लाता है और यह प्रश्न उठाता है कि जब समाज स्वयं नैतिक नहीं है, तो वह नैतिक पीढ़ी की अपेक्षा कैसे कर सकता है[12]।

कुल मिलाकर, हरिशंकर परसाई का सांस्कृतिक एवं धार्मिक व्यंग्य भारतीय समाज की आत्मालोचना है। वे परंपरा, श्रद्धा और धर्म को नकारते नहीं हैं, बल्कि उन्हें विवेक, मानवता और न्याय के अधीन रखना चाहते हैं। उनका व्यंग्य यह आग्रह करता है कि संस्कृति प्रश्नों से डरने के बजाय उनसे समृद्ध हो। परसाई यह सिद्ध करते हैं कि जब तक संस्कृति और धर्म मनुष्य के पक्ष में खड़े नहीं होते, तब तक वे समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ते रहेंगे। इस प्रकार परसाई का सांस्कृतिक व्यंग्य आधुनिक हिंदी साहित्य में केवल हास्य नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना, नैतिक विवेक और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा का सशक्त माध्यम बनकर उभरता है।

निष्कर्ष-

हरिशंकर परसाई का साहित्य हिंदी व्यंग्य परंपरा में सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का एक सशक्त दस्तावेज़ है। उनका व्यंग्य दो प्रमुख धाराओं—सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक-नैतिक—में प्रवाहित होता है, जो परस्पर जुड़ी हुई हैं और समकालीन भारतीय समाज की जटिलताओं को उजागर करती हैं। सामाजिक स्तर पर परसाई लोकतंत्र की विडंबनाओं, राजनीति की अवसरवादी प्रवृत्तियों, सत्ता की अमानवीयता तथा आम जनता के निरंतर शोषण को निर्भीकता से सामने रखते हैं। *एक कंपकंपाता हुआ गणतंत्र*, *विकलांग राजनीति* और *भेड़ और भेड़िये* जैसी रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र कई बार केवल औपचारिकताओं, नारों और उत्सवों तक सीमित रह गया है, जबकि उसकी आत्मा—जनहित, न्याय

और समानता—संकट में है। सांस्कृतिक स्तर पर परसाई धर्म, परंपरा, श्रद्धा और नैतिकता की उन संरचनाओं की आलोचना करते हैं जो अपने मूल मानवीय उद्देश्य से भटककर पाखंड, जड़ता और सत्ता के उपकरण में बदल चुकी हैं। *विकलांग श्रद्धा का दौर* जैसी रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि विवेकहीन श्रद्धा और दिखावटी नैतिकता समाज को नैतिक रूप से अपंग बना देती हैं। परसाई धर्म और राजनीति के गठजोड़ को सामाजिक सौहार्द और लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए घातक मानते हैं तथा सांप्रदायिकता को सांस्कृतिक विघटन का कारण बताते हैं।

परसाई का व्यंग्य केवल हँसाने या मनोरंजन करने तक सीमित नहीं है; वह पाठक को असहज करता है, प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करता है और सामाजिक यथार्थ से मुठभेड़ करने का साहस देता है। उनकी रचनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि साहित्य का दायित्व समाज के प्रति आलोचनात्मक और जनपक्षधर होना चाहिए। इसी कारण हरिशंकर परसाई न केवल अपने समय के, बल्कि आज के भारतीय समाज के भी सबसे प्रासंगिक और प्रखर सामाजिक-सांस्कृतिक व्यंग्यकार के रूप में स्थापित होते हैं।

संदर्भ:-

[1] शुक्ल, रामचंद्र. (2006). *हिंदी साहित्य का इतिहास* (नवीन संस्करण). नागरी प्रचारिणी सभा.

[2] परसाई, हरिशंकर. (1984). *विकलांग श्रद्धा का दौर*. राजकमल पेपरबैक्स.

[3] परसाई, हरिशंकर. (1984). *ठिठुरता हुआ गणतंत्र*. राजकमल पेपरबैक्स.

[4] परसाई, हरिशंकर. (1991). *आवारा भीड़ के ख़तरे* (पृ. 13). राजकमल पेपरबैक्स.

[5] वही

[6] परसाई, हरिशंकर. (1979). *विकलांग राजनीति*. राजकमल पेपरबैक्स.

[7] परसाई, हरिशंकर. (2003). भेड़ और भेड़िये. *आवारा भीड़ के ख़तरे*. राजकमल पेपरबैक्स.

[8] परसाई, हरिशंकर. (1982). *इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर*. भारतीय ज्ञानपीठ.

[9] परसाई, हरिशंकर. (1982). *सदाचार की ताबीज़*. भारतीय ज्ञानपीठ.

[10] परसाई, हरिशंकर. (1984). *विकलांग श्रद्धा का दौर*. राजकमल पेपरबैक्स.

[11] कुमार, काशीनाथ. (2010). *हरिशंकर परसाई : व्यंग्य और विचार*. वाणी प्रकाशन.

[12] शुक्ल, शिवकुमार. (2012). *हरिशंकर परसाई का व्यंग्य साहित्य : एक आलोचनात्मक अध्ययन*. लोकभारती प्रकाशन.

अन्य संदर्भ -

- नंदकिशोर नवल. (2005). *हिंदी व्यंग्य साहित्य की परंपरा*. राजकमल प्रकाशन.
- नामवर सिंह. (1999). *आलोचना के नए आयाम*. राजकमल प्रकाशन.
- मैथिलीशरण गुप्त (संपा.). (2008). *हिंदी साहित्य : सामाजिक संदर्भ*. भारतीय ज्ञानपीठ.

Manuscript Timeline
Submitted : *February 10, 2026* ***Accepted :*** *February 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

A Critical Examination of Supranational Organizations and the Problem of Sovereignty

Dr. Mathew Sinu Simon[1]

Abstract

Supranational organizations represent one of the most significant innovations in modern governance, challenging the Westphalian orthodoxy that sovereign states remain the sole authoritative actors in international affairs. This paper critically examines the conceptual foundations, institutional characteristics, and operational dynamics of supranational organizations, with particular attention to the persistent tension between supranational authority and state sovereignty. Drawing on theoretical frameworks from neo-functionalism (Haas, 1958, 1964), principal-agent theory (Pollack, 1997), and liberal intergovernmentalism (Moravcsik, 1993), I argue that supranationality exists not as a binary condition but as a continuum along which international organizations manifest varying degrees of authority delegation, decisional autonomy, and normative supremacy. The analysis reveals that no existing organization fully satisfies the ideal-typical conditions of supranationalism (Schermers & Captorti, 1983), yet the European Union demonstrates an unprecedented concentration of supranational features (Weiler, 1981). I further contend that the conceptual ambiguity surrounding supranationality reflects not analytical failure but the inherent messiness of political authority in an era of contested sovereignty. The paper concludes by suggesting that future research should move beyond definitional debates toward understanding how hybrid governance arrangements actually function across different policy domains.

Keywords: *supranational organizations, sovereignty, European Union, neo-functionalism, principal-agent theory, international integration, pooled sovereignty*

Introduction-

The sovereign nation-state has long served as the foundational unit of modern political analysis. Since the Peace of Westphalia in 1648, the principle that states exercise supreme authority within their territorial boundaries has structured both international law and the academic study of international relations. Yet the twentieth century witnessed the emergence of a peculiar institutional form that challenges this orthodoxy: the supranational organization. Unlike conventional intergovernmental

[1] Assistant Professor, Political Science, ICFAI School of Liberal Arts, The ICFAI University, Jaipur. Mob.- 8130225740, E-mail.- mathew.matt@gmai.com

bodies that facilitate cooperation among otherwise autonomous states, supranational organizations claim, and occasionally exercise authority that supersedes the will of member governments (Claude, 1964).

This development raises fundamental questions about the nature of political authority in the contemporary international system. What distinguishes a supranational organization from its intergovernmental counterparts? Under what conditions do states voluntarily cede decision-making power to higher-level institutions? And to what extent do existing organizations, particularly the European Union, genuinely transcend the sovereign state system?

These questions are not merely academic. As Kissinger (2001) observed, the future of international relations may belong not to nation-states but to supranational entities of the European Union type. Whether this prediction proves accurate depends substantially on whether such organizations can resolve the enduring tension between supranational authority and democratic legitimacy, between efficiency and accountability, between integration and national identity (Majone, 1996).

The existing literature suffers from significant conceptual fragmentation. Scholars have deployed the term "supranational" to describe phenomena ranging from majority voting in international organizations (Stoessinger, 1975) to the direct effect of European law on individuals (Weiler, 1981). This definitional elasticity, while reflecting genuine empirical complexity, has hindered cumulative knowledge development. The present paper addresses this gap by offering a systematic conceptual analysis grounded in multiple theoretical traditions.

Specifically, I advance three arguments. First, supranationality is best understood as a multidimensional continuum rather than a binary category. Second, the delegation of authority from states to supranational institutions can be explained through rationalist principal-agent logic (Pollack, 1997), though this framework captures only part of the dynamic. Third, the European Union represents neither the realization of full supranationalism nor its absence, but rather a distinctive hybrid form that has generated its own internal tensions and evolutionary pathways (Weiler, 1981).

Literature Review-

The scholarly literature on supranational organizations reveals competing definitions, theoretical disagreements, and persistent empirical puzzles. Three major strands of thought merit careful examination: conceptual approaches to defining supranationality, theoretical accounts of integration, and empirical analyses of specific organizations.

Conceptual Contestation- Early efforts to define supranational organizations emphasized formal institutional features. Claude (1964) stressed the capacity to make binding decisions by qualified majority vote, along with institutional independence

from member governments. Etzioni (2001) proposed three elements: decision-making by bodies not composed of national representatives, legal obligations to comply with such decisions, and direct interaction between individuals and supranational bodies. These formulations share an emphasis on authority transfer but differ in their specific criteria.

More nuanced treatments have recognized the gradational nature of supranationality. Schermers and Captorti (1983) identified seven conditions for full supranationality, including binding decisions, institutional independence, direct effect on individuals, enforcement power, financial autonomy, restrictions on withdrawal, and a distinct legal system. Notably, they conceded that no existing organization satisfies all conditions completely. Weiler's (1981) influential distinction between normative supranationalism (the hierarchy of community over national law) and decisional supranationalism (institutional decision-making procedures) similarly captures the multidimensional character of the phenomenon.

Critically, the definitional problem may be insoluble in purely conceptual terms. Moravcsik's (1993) differentiation between pooled sovereignty (decisions by non-unanimous voting) and delegated sovereignty (authority granted to supranational actors) acknowledges that states may transfer authority in different ways and to different degrees across policy domains.

Theoretical Accounts- Neo-functionalism, associated primarily with Haas (1958), provided the first systematic theory of supranational integration. The framework posits that integration in technical-economic sectors generates "spillover" effects, creating pressures for cooperation in increasingly political domains. As interest groups, bureaucrats, and political elites redefine their loyalties toward regional institutions, a self-reinforcing integration dynamic unfolds. The end product, ideally, is a political community commanding greater loyalty than its constituent nation-states (Haas, 1964).

Liberal intergovernmentalism, advanced by Moravcsik (1993), offers a competing account emphasizing state-centric bargaining. From this perspective, supranational institutions emerge from rational calculations of national interest. States delegate authority when doing so solves credible commitment problems or reduces transaction costs, but they remain the ultimate principals controlling agents through careful institutional design.

Principal-agent theory has provided a middle ground, treating supranational institutions as agents to which states (principals) delegate specific tasks. The framework highlights information asymmetries, divergent preferences, and the challenge of controlling agents that may develop autonomous agendas. Pollack's (1997) application of this approach to the European Union has generated important insights about the conditions under which supranational actors exercise independent influence.

Empirical Assessments- The European Union has naturally dominated empirical research. Scholars have documented the direct effect and supremacy of European law (Weiler, 1981), the European Court of Justice's role in constitutionalizing the treaties (Caporaso, 1996), and the European Commission's agenda-setting power (Pollack, 1997). Yet significant disagreements persist about the extent of supranational authority. Some emphasize the member states' continued control through the Council and European Council; others highlight the autonomous causal role of supranational institutions in shaping policy outcomes.

Beyond Europe, the literature on other organizations remains comparatively underdeveloped. The World Trade Organization's dispute settlement mechanism exhibits certain supranational features, including binding decisions and standing appellate body rulings that take precedence over national measures (Stone Sweet, 2004). Yet the WTO General Council remains firmly intergovernmental. The United Nations Security Council can impose binding sanctions, but its composition and decision rules reflect great power politics rather than supranational principles (Archer, 1992).

A notable gap in the literature concerns the absence of genuinely "full" supranational organizations. Scholars have largely accepted this as given, without systematically interrogating whether the ideal type is theoretically coherent or empirically possible. The persistence of sovereignty as an organizing principle may reflect not merely political resistance but functional necessity.

Theoretical Framework and Methodology-

This study adopts a synthetic theoretical framework combining insights from neo-functionalism (Haas, 1958), principal-agent theory (Pollack, 1997), and liberal intergovernmentalism (Moravcsik, 1993). Rather than treating these approaches as competing, I follow the logic of complementary explanatory pluralism: different theoretical lenses illuminate different aspects of supranational organization, and the research question should determine which framework proves most useful.

Core Concepts- Supranational organization is defined here as an international institution possessing three characteristics to a non-trivial degree: **(1)** decision-making autonomy from member state control, operationalized as the capacity to make binding decisions without requiring unanimous approval; **(2)** normative supremacy, operationalized as the precedence of institutional rules over conflicting national law; and **(3)** direct effect, operationalized as the capacity to impose legal obligations on individuals without intermediary state action (Weiler, 1981; Schermers & Captorti, 1983). These dimensions are treated as continuous rather than binary.

Sovereignty is understood following conventional usage as supreme legitimate authority within a territory (Claude, 1964). Importantly, sovereignty is divisible and

shareable; states can cede specific competences while retaining ultimate authority over the scope and terms of delegation (Moravcsik, 1993).

Methodological Approach- This paper employs conceptual analysis and theoretical synthesis rather than empirical hypothesis testing. The methodology involves: **(a)** systematic identification of definitional criteria proposed in the literature; **(b)** critical examination of the logical coherence and empirical referents of those criteria; **(c)** development of a multidimensional conceptual framework; and **(d)** illustrative application to the European Union and selected other organizations.

The analysis is guided by two methodological principles. First, conceptual parsimony should not be purchased at the price of empirical adequacy; if reality is messy, concepts should capture that messiness rather than imposing false clarity (Rosenau, 1980). Second, theoretical frameworks should be evaluated not by their internal elegance but by their capacity to generate productive research questions and explain observable phenomena.

Limitations- The study does not provide original empirical evidence, nor does it systematically test competing propositions against case data. The conclusions should therefore be treated as provisional, subject to refinement through subsequent empirical investigation. Additionally, the focus on formal institutional features may underemphasize informal practices and normative dynamics that shape how supranational authority actually operates (Caporaso, 1996).

Analysis and Discussion:

The Multidimensional Continuum of Supranationality-

The literature's proliferation of definitional criteria reflects an underlying empirical reality: supranationality manifests differently across organizations, policy domains, and historical periods. Treating it as a binary condition obscures more than it reveals. A more productive approach conceptualizes supranationality along three continuous dimensions.

The first dimension concerns decisional autonomy—the extent to which an institution can act without requiring member state approval. At one extreme lie traditional intergovernmental organizations requiring unanimity for all significant decisions (Archer, 1992). At the other extreme lies the hypothetical supranational government capable of acting entirely independently. Between these poles, organizations exhibit varying thresholds: qualified majority voting (as in much EU decision-making), supermajority requirements, or consensus norms that nevertheless permit majority action in practice.

The European Union's Council of Ministers uses qualified majority voting for most legislative matters, yet the European Council retains unanimity requirements for treaty changes and certain sensitive policies (Moravcsik, 1993). The WTO's dispute

settlement body operates by negative consensus—the decision stands unless all members reject it—which effectively grants the Appellate Board decisional autonomy while preserving formal member control (Stone Sweet, 2004). These arrangements resist simple classification as either intergovernmental or supranational.

The second dimension concerns normative supremacy—the priority of institutional rules over conflicting national law. Here again gradations exist. Some organizations merely recommend standards without legal force. Others, like the World Health Organization, issue regulations that member states may opt out of within specified periods (Schermers & Captorti, 1983). The European Union's legal order claims supremacy over national law, yet this claim has been contested by several member states' constitutional courts, which reserve the right to review EU acts for compatibility with fundamental constitutional principles (Weiler, 1981).

The European Court of Justice's famous declaration in Costa v ENEL (1964) that community law "cannot be overridden by domestic legal provisions" represents the strongest possible formulation of supremacy. Yet the German Federal Constitutional Court's Solange jurisprudence, holding that it would review EU acts for fundamental rights compliance, demonstrates practical limitations on that supremacy claim (Caporaso, 1996). Supremacy is negotiated, not simply asserted.

The third dimension concerns direct effect—the capacity to impose obligations on individuals without intermediary state action. This feature, often treated as the hallmark of genuine supranationality, varies significantly across organizations. The European Coal and Steel Community Treaty explicitly provided that decisions would be directly binding, a design choice that Jean Monnet (1978) considered essential. Later European treaties preserved this feature. The UN Security Council's sanctions resolutions theoretically bind individuals, but implementation typically requires national legislation (Claude, 1964). The WTO agreements have generally been denied direct effect by domestic courts (Stone Sweet, 2004).

These three dimensions exhibit empirical independence. An organization might have strong direct effect but weak decisional autonomy, or vice versa. The European Union scores high on all three, but not uniformly across policy areas. Common foreign and security policy remains largely intergovernmental; competition policy is highly supranational (Pollack, 1997). This internal variation suggests that supranationality should be analyzed at the policy domain level rather than the organizational level.

Explaining the Delegation of Authority-

Why would states ever create institutions with genuine authority to constrain their future actions? Rationalist explanations emphasize problem-solving: states delegate authority to solve collective action problems, overcome time-inconsistency issues, and reduce transaction costs (Majone, 1996).

The credible commitments argument carries particular weight. When states negotiate international agreements, they face incentives to defect. Creating an independent institution with monitoring and enforcement authority can make commitments more credible, facilitating cooperation that benefits all parties (Moravcsik, 1993). The European Union's competition policy, enforced by the European Commission with substantial autonomy, exemplifies this logic. Member states gain from a level playing field even though they sacrifice the ability to shield domestic firms.

Principal-agent theory elaborates this insight. States (principals) delegate authority to supranational institutions (agents) to achieve outcomes they cannot accomplish through decentralized cooperation. Agents may be given specific mandates (police patrol oversight) or general authority with fire alarm mechanisms for control. Delegation is never complete; states design institutional rules, appoint personnel, and retain ultimate treaty revision authority to limit agency slack (Pollack, 1997).

Yet rationalist accounts capture only part of the story. Neo-functionalists correctly noted that integration often produces unintended consequences. Once the European Court of Justice established the doctrines of direct effect and supremacy, neither the member states that had accepted the original treaty nor even the Court's own judges could fully anticipate the constitutionalization dynamic that followed (Haas, 1964; Weiler, 1981). Path dependence and feedback effects matter.

Moreover, delegation decisions reflect not only efficiency calculations but also distributive politics. Weaker states may favor supranational authority as a constraint on powerful neighbors; the Benelux countries historically supported European integration for precisely this reason (Koenig-Archibugi, 2004). Conversely, powerful states may resist delegation that would limit their room for maneuver. The pattern of delegation across policy areas thus reflects underlying power asymmetries.

The European experience suggests an additional dynamic: the legitimating function of supranational authority. States may invoke "Brussels" as justification for unpopular domestic policies, engaging in what scholars have called "blame avoidance" (Claes & Førland, 2004). The Maastricht Treaty's fiscal convergence criteria provided European governments with political cover for difficult budget cuts (Moravcsik, 1993). This strategic use of supranational authority, while hardly constituting deep integration, contributes to its persistence and expansion.

The European Union as Problematic Exemplar-

The European Union defies easy categorization. It exhibits strong supranational features in some respects yet remains deeply intergovernmental in others. Understanding this hybrid character requires distinguishing between the EU's legal-constitutional order and its political-dynamic operation.

In legal terms, the EU stands closer to the supranational ideal than any other international organization. The Court of Justice has constructed a constitutional framework in which EU law takes precedence over conflicting national law, has direct effect on individuals, and binds member states regardless of their approval of specific measures (Weiler, 1981). These features emerged through judicial interpretation rather than explicit treaty provision, illustrating the autonomous causal power of supranational institutions (Caporaso, 1996).

Yet legal supremacy operates within politically negotiated limits. The Court cannot compel compliance; its authority depends ultimately on member state acceptance. When the German Constitutional Court threatened to review EU acts for compatibility with basic rights, the EU responded by developing its own fundamental rights jurisprudence (Weiler, 1981). When Poland and Hungary resisted rule-of-law conditionality, the EU found itself with enforcement mechanisms that proved difficult to activate (Pollack, 1997). Law constrains politics but does not replace it.

In political terms, the EU remains substantially intergovernmental. Major decisions—treaty changes, budget frameworks, enlargement, foreign policy—require unanimous member state approval (Moravcsik, 1993). Even in qualified majority areas, the Council of Ministers typically seeks consensus. The European Commission, though endowed with agenda-setting powers and enforcement authority, cannot override clear member state opposition on politically salient matters (Pollack, 1997).

Weiler's (1981) dual character thesis captures this tension: normatively supranational, politically intergovernmental. The EU has constructed a legal order that meets the most demanding criteria for supranationality while maintaining political decision-making structures that preserve substantial state control. Whether this hybrid can persist indefinitely, or whether it will evolve toward either greater supranationality or renewed intergovernmentalism, remains an open question.

The absence of Etzioni's (2001) three conditions for stable supranational union is instructive. The EU lacks legitimate control of violence (member states retain their militaries), does not allocate resources among members in the manner of a federal government (the budget is tiny relative to GDP), and cannot command political loyalties exceeding those to nation-states (European identity remains secondary). On these criteria, the EU is not and is unlikely to become a full-fledged supranational union. Yet it nonetheless operates effectively in many policy domains. Perhaps the ideal-type criteria are too demanding.

Implications and Limitations-

This analysis carries several implications for research and practice. **First,** scholars should abandon binary conceptualizations of supranationality in favor of continuous, multidimensional approaches (Weiler, 1981; Schermers & Captorti, 1983).

The question is not whether an organization is supranational but rather to what degree, along which dimensions, and in which policy domains.

Second, the principal-agent framework requires refinement to capture feedback effects and preference change (Pollack, 1997). States' preferences regarding supranational authority are not fixed but evolve through interaction with institutions (Haas, 1964). The distinction between agent autonomy and genuine supranational authority likewise requires careful theoretical attention.

Third, practitioners should recognize that supranational authority generates legitimacy challenges that intergovernmental cooperation avoids. When the European Commission fines a corporation or the European Central Bank conditions refinancing on policy adjustments, questions of democratic accountability inevitably arise (Majone, 1996). These challenges are not fatal but require institutional responses that the EU has only partially developed.

Several limitations of the present study warrant acknowledgment. The analysis has focused primarily on the European case, reflecting the literature's biases. Other regional organizations—ASEAN, MERCOSUR, the African Union—exhibit different configurations of authority that merit systematic comparison (Archer, 1992). Additionally, the study has treated supranational organizations as formal institutions, neglecting the role of transnational networks, private authority, and informal governance arrangements that increasingly shape international politics (Rosenau, 1980).

Conclusion-

Supranational organizations represent an enduring puzzle for theories of international relations premised on sovereign statehood. This paper has argued for understanding supranationality as a multidimensional continuum rather than a binary condition, for explaining delegation through rationalist principal-agent logic while recognizing its limitations, and for acknowledging the European Union as a hybrid case that challenges conventional categories.

Three findings merit emphasis. First, no existing organization approximates the ideal-typical supranational organization; the concept functions more as an analytical horizon than an empirical description (Schermers & Captorti, 1983). Second, the conditions Schermers and Captorti (1983) identified for full supranationality are so demanding that no organization could satisfy them without becoming, effectively, a federal state (Etzioni, 2001). Third, the European Union's legal-constitutional order exhibits stronger supranational features than its political-dynamic operation, generating persistent tensions between normative claims and political reality (Weiler, 1981).

The future of supranational organization remains uncertain. Integration may continue, expanding the scope and depth of delegated authority. Alternatively, backlash against supranational governance evident in Brexit, in rising European populism, in American disengagement from multilateral institutions may produce recentralization (Caporaso, 1996). Both outcomes are possible; neither is inevitable.

For scholars, the priority should shift from definitional debates to empirical investigation of how hybrid governance arrangements actually function across different policy domains. How do supranational institutions acquire and exercise autonomous influence? Under what conditions do states comply with decisions they opposed? How do legitimacy challenges get managed or resolved? Answering these questions requires moving beyond the question "Is organization X supranational?" to the more productive inquiry "How does supranational authority operate in practice?"

The emergence of supranational organization does not herald the death of the nation-state. Sovereignty remains remarkably resilient as both an organizing principle and a political claim (Krasner, 1999). Yet neither can supranational authority be dismissed as epiphenomenal. In economic governance, in human rights protection, in technical regulation, and increasingly in security cooperation, states have created institutions that genuinely constrain their freedom of action (Haas, 1964). Understanding contemporary international politics requires taking these institutions seriously—not as states writ large, nor as embryonic world governments, but as something distinctive and new.

References-

- Archer, C. (1992). *International organizations* (2nd ed.). Routledge.
- Caporaso, J. A. (1996). The European Union and forms of state: Westphalian, regulatory or post-modern? *Journal of Common Market Studies*, 34(1), 29-52.
- Claes, D. H., & Førland, T. E. (2004). *European integration*. Gyldendal Akademisk.
- Claude, I. L., Jr. (1964). *Swords into ploughshares: The problems and progress of international organization* (4th ed.). Random House.
- Etzioni, A. (2001). *Political unification revisited: On building supranational communities*. Lexington Books.
- Haas, E. B. (1958). *The uniting of Europe: Political, social and economic forces*. Stanford University Press.
- Haas, E. B. (1964). *Beyond the nation-state*. Stanford University Press.
- Kissinger, H. (2001, July 9). Does America need a foreign policy? [Review of the book *Does America need a foreign policy?*]. *Time Magazine*.
- Koenig-Archibugi, M. (2004). Explaining government preferences for institutional change in EU foreign and security policy. *International Organization*, 58(1), 137-174.

- Krasner, S. D. (1999). *Sovereignty: Organized hypocrisy*. Princeton University Press.
- Majone, G. (1996). *Temporal consistency and policy credibility: Why democracies need non-majoritarian institutions* (EUI Working Paper RSC No. 96/57). European University Institute.
- Monnet, J. (1978). *Memoirs*. Doubleday.
- Moravcsik, A. (1993). Preferences and power in the European Community: A liberal intergovernmentalist approach. *Journal of Common Market Studies*, 31(4), 473-524.
- Pollack, M. A. (1997). Delegation, agency and agenda setting in the European Community. *International Organization*, 51(1), 99-134.
- Rosenau, J. N. (1980). *The study of global interdependence: Essays on the transnationalization of world affairs*. Nichols Publishing.
- Schermers, H. G., & Captorti, F. (1983). Supranational organizations. In R. Bernhardt (Ed.), *Encyclopedia of public international law* (Installment 5, pp. 262-268). Elsevier.
- Stoessinger, J. G. (1975). *The might of nations: World politics of our time*. McGraw-Hill.
- Stone Sweet, A. (2004). *The judicial construction of Europe*. Oxford University Press.
- Weiler, J. H. H. (1981). The community system: The dual character of supranationalism. *Year Book of European Law*, 1(1), 267-306.

Manuscript Timeline
Submitted : *February 15, 2026* ***Accepted :*** *February 25, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

Understanding Barriers to Meaningful Participation of Women in Panchayati Raj Institution in Context of Bihar

Dr. Rajesh Chandra[1]

Abstract

The 73rd Constitutional Amendment Act of 1992 represented a pivotal advancement in India's democratic decentralization, mandating women's participation in Panchayati Raj Institutions (PRIs). Bihar, notably the first state to introduce 50% reservation for women in PRIs, presents a critical case for examining the gap between formal representation and substantive participation. Drawing on existing literature and policy analysis, this paper argues that despite constitutional provisions, women's participation in Bihar's PRIs remains predominantly symbolic rather than transformative. Deep-rooted patriarchal norms perpetuate proxy representation—commonly termed "Mukhiya pati" culture—where male family members exercise actual decision-making authority (Gopal, 2006). Educational disparities, with female literacy significantly below state averages, compound capacity constraints including limited political awareness, inadequate training, and leadership skill deficits (Finance Department, Government of Bihar, 2019). Economic dependence, restricted mobility, and social stigma further undermine women's autonomous political agency. The paper concludes that numerical representation, while necessary, remains insufficient for genuine empowerment. Structural interventions addressing patriarchal practices, robust capacity-building mechanisms, and gender-sensitive governance frameworks are essential for transforming women's participation from symbolic presence to substantive leadership in Bihar's grassroots democracy.

Keywords: *Women's participation, Panchayati Raj Institutions, Bihar, Patriarchy, Proxy representation, Local governance*

Introduction-

India's Panchayati Raj system was constitutionally envisioned as an instrument of democratic decentralization, transferring power, responsibilities, and resources from state authorities to local self-governing bodies (Aslam, 2007). This three-tier structure—comprising Gram Panchayat at the village level, Panchayat Samiti at the block level, and Zilla Parishad at the district level—was designed to draw citizens into

[1] Ph.D in Sociology, Department of sociological studies, Central University of South Bihar Gaya, Bihar. Mobile: +91 – 8521346639; Email: rajeshcusb@gmail.com

participatory decision-making processes. Mahatma Gandhi's vision of *gram swaraj* (village self-rule) profoundly influenced this framework, emphasizing grassroots democracy as the foundation of India's political system (Gandhi, 1963).

The enactment of the 73rd Constitutional Amendment Act in 1992 marked a transformative milestone in this journey. Beyond strengthening democratic decentralization, the amendment mandated reservations for marginalized groups, including Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and women, in local governing bodies (Bhattacharya, 2013). This provision created unprecedented opportunities for women's political entry at village, block, and district levels, fundamentally altering the gender landscape of rural governance.

Following the amendment, the Government of Bihar enacted the Bihar Panchayat Raj Act (BPRA) of 1993, subsequently replaced by the Bihar Panchayat Raj Act of 2006, establishing a three-tier Panchayati Raj system across the state (Government of Bihar, 2017). The first general elections under this framework were held in April and May 2001. Critically, Bihar became the first state in India to introduce 50% reservation for women representatives across all three tiers—a provision codified in the Bihar Panchayat Raj Adhiniyam, 2006. This progressive policy positioned Bihar as a potential model for women's political empowerment through local governance.

However, a substantial gap exists between constitutional provisions and lived realities (Abeer, 1999). Despite numerical representation, women's participation in Bihar's PRIs remains predominantly formal rather than effective. Many elected women representatives experience significant constraints in exercising independent authority and actively engaging in governance processes (Chandel & Chandel, 2016). Several interconnected barriers—socio-cultural, economic, educational, and institutional—limit their substantive involvement. This paper systematically examines these barriers, drawing on existing scholarship and policy documents to analyze the structural and societal impediments to women's meaningful participation in Bihar's Panchayati Raj Institutions.

Theoretical Framework: From Numerical to Substantive Representation-

Understanding women's participation in PRIs requires distinguishing between *descriptive representation* (the presence of women in political offices) and *substantive representation* (the ability to influence policy and decision-making effectively) (Gopal, 2006). While reservation policies have successfully achieved descriptive representation, substantive representation remains elusive for many women representatives in Bihar. This paper adopts this analytical distinction to evaluate the quality of women's participation beyond mere numerical presence.

Key Barriers to Women's Meaningful Participation in Bihar's PRIs

1. Patriarchal Norms and Socio-Cultural Constraints-

The position of women in Indian society is profoundly shaped by social systems, cultural traditions, and familial institutions including marriage, religion, and customary practices (Desai & Thakkar, 2011). Doshi and Jain (2017) argue that these institutions determine gender roles, behavioral expectations, and rights exercise. In Bihar, a pronounced disjunction exists between constitutionally guaranteed rights and socially imposed restrictions on women's autonomy.

Despite educational attainment, employment, or financial independence, women remain primarily associated with household duties and domestic responsibilities. Political participation and decision-making authority are culturally constructed as masculine domains, particularly in rural and middle-class communities (Arya, 2013). This patriarchal mindset systematically excludes women from active political involvement and leadership roles.

Even among elected women representatives, male family members frequently influence or control decision-making. Male dominance manifests through limited freedom afforded to women representatives to raise issues concerning women's welfare, education, healthcare, employment, and social justice (Agrawal, 2018). Women's empowerment—defined as the freedom and capacity to make decisions about one's life according to individual needs, abilities, and circumstances—cannot be achieved through legal provisions alone. Social support, awareness, and attitudinal change remain indispensable (Abeer, 1999).

Specific manifestations of patriarchal constraints include:

Deep-rooted gender stereotypes- Deep-rooted gender stereotypes continue to influence Bihar's social fabric, where women's roles remain predominantly confined to the domestic sphere, while public life leadership is considered masculine responsibility (Desai & Thakkar, 2011).

Family authority and male dominance*-* Family authority and male dominance manifest through husbands, fathers, and other male relatives exercising control over women representatives, making political and administrative decisions on their behalf, thereby limiting independent functioning (Chandel & Chandel, 2016).

Social stigma- Social stigma attaches to women who actively participate in politics and public affairs, who often face criticism, ridicule, and discrimination, discouraging fre expression of opinions (Arya, 2013).

Honor and shame narratives- Honor and shame narratives in traditional Bihar communities link "family honor" to women's behavior, mobility, and public presence, restricting independent travel, public interaction, and political participation (Doshi & Jain, 2017).

2. Proxy Representation: The "Mukhiya Pati" Phenomenon-

Proxy representation represents one of the most significant barriers to meaningful women's participation in Bihar's PRIs. Studies across various districts indicate that women are frequently used as proxies serving patriarchal family interests, entering politics primarily to protect constituencies for male relatives (Gopal, 2006). The socio-cultural atmosphere in Bihar remains unfavourable to independent women's political participation.

Nominal participation characterizes many reserved seats, filled by women who serve as figureheads from political families where male members previously held office (Bhattacharya, 2013). Reserved seats inadvertently become mechanisms for political families to maintain control while formally complying with reservation mandates.

Decision-making exclusion is evident as actual power remains with male relatives who attend meetings in place of elected women representatives. Historically termed "*Mukhiya pati*" (village head's husband), these male proxies now adopt the more respectable designation "*Mukhiya pratinidhi*" (village head's representative), systematically excluding women from decision-making processes (Government of Bihar, 2017).

Limited autonomy persists because women lack awareness of their legal and rational authority. Since Panchayat work is routinely managed by male counterparts, women representatives do not develop the capacity or confidence for independent decision-making (Arora & Hooja, 2009).

3. Capacity Constraints and Training Deficits-

Capacity constraints remain a major challenge affecting women's effective participation in PRIs (Arora & Hooja, 2009). Many rural women representatives have limited educational opportunities and inadequate awareness of political and administrative processes, impeding their understanding of government schemes, official procedures, and constitutional responsibilities.

Lack of training manifests through insufficient orientation programs for women representatives regarding Panchayati Raj functions. Women face considerable handicaps in decision-making involvement at grassroots levels, including lack of knowledge about PRI functioning, burden of reproductive and productive roles, lack of self-confidence, and opposition from entrenched cultural and religious values (Chandel & Chandel, 2016).

Leadership skill deficits affect many women representatives due to limited access to training and mentorship opportunities in public speaking, negotiation, decision-making, and conflict resolution—deficits that directly impact confidence and effectiveness in political and administrative roles (Bhattacharya, 2013). Limited

communication skills, lack of technical knowledge, and low digital literacy further prevent independent handling of official work. Economic dependence on family members restricts decision-making freedom, while insufficient institutional and administrative support creates additional obstacles (Agrawal, 2018).

4. Educational Barriers-

Literacy challenges represent a fundamental barrier for women in Bihar. Gender inequality produces female literacy rates substantially below state averages (Finance Department, Government of Bihar, 2019). Parents demonstrate greater interest in daughters' marriage arrangements than proper education. Most girls discontinue studies to engage in household activities, partly due to dowry and *tilak* customs, where higher education for daughters is perceived as complicating marriage prospects (Desai & Thakkar, 2011).

Rural education systems face persistent dropout problems, with female children from socially and economically disadvantaged groups particularly prone to discontinuation. Observations indicate that among total dropouts, the majority were females. While Government schools exist in villages, most girls cannot continue studies beyond primary level (Doshi & Jain, 2017).

Comprehension difficulties arise from limited ability to understand technical documents and government circulars. Most women representatives lack education necessary to comprehend such documents, which are consequently managed by male counterparts or Panchayat officials (Government of Bihar, 2017).

Language barriers occur because official communications are often in Hindi or English rather than local dialects. Elected women representatives predominantly speak and understand their mother tongue, creating significant communication obstacles (Arora & Hooja, 2009).

5. Economic Constraints-

The economic condition of women remains among the most important barriers to active political participation (Abeer, 1999). Most women lack independent income sources and property ownership, creating financial dependence on husbands or families. Even women elected to Gram Panchayats continue struggling for livelihood while managing household responsibilities (Finance Department, Government of Bihar, 2019).

In rural Bihar, many women work as landless agricultural labourers or engage in seasonal and domestic work to support families. These economic pressures and daily responsibilities make active, effective participation in political processes and decision-making exceedingly difficult (Doshi & Jain, 2017). Economic dependence translates directly into political dependence, as male family members who control financial resources also control political decisions.

Institutional Gaps and Implementation Failures-

Beyond individual-level barriers, institutional gaps significantly impede women's meaningful participation. Weak implementation of training programmes, absence of gender-sensitive governance mechanisms, inadequate administrative support, and insufficient monitoring of proxy representation collectively undermine women's empowerment (Government of Bihar, 2017). The Bihar Panchayat Raj Act, 2006, while progressive in its reservation provisions, lacks robust enforcement mechanisms to ensure independent functioning of women representatives (Agrawal, 2018).

Discussion: From Symbolic to Substantive Participation-

The evidence reviewed demonstrates that Bihar's experience with women's reservation in PRIs exemplifies the distinction between numerical and substantive representation (Gopal, 2006). While reservation policies have successfully brought large numbers of women into political institutions, structural and societal barriers prevent many from exercising meaningful decision-making authority.

The persistence of proxy representation—the "*Mukhiya pati*" phenomenon—represents perhaps the most direct subversion of reservation policy intent. When male relatives exercise actual authority, the democratic and empowerment objectives of the 73rd Amendment remain unfulfilled (Bhattacharya, 2013). Similarly, capacity constraints and educational barriers are not merely individual deficiencies but reflect systemic failures in training, support, and institutional design.

Economic dependence emerges as a cross-cutting constraint that intersects with patriarchal norms, educational gaps, and capacity deficits (Abeer, 1999). Without economic autonomy, women representatives cannot challenge male authority or exercise independent political agency.

Conclusion-

The reservation of seats for women in Panchayati Raj Institutions and Local Self-Governments has significantly expanded women's participation in grassroots politics and enhanced political awareness. New avenues have opened for women to enter public life and contribute to local governance (Aslam, 2007). However, this paper has demonstrated that numerical representation alone does not guarantee genuine empowerment unless women can exercise independent decision-making power and actively engage in political processes.

Multiple interconnected barriers continue limiting effective participation: proxy representation by male family members, lack of awareness about institutional functioning, domestic and caregiving responsibilities, low self-confidence, deeply rooted social and cultural norms, and economic constraints (Arora & Hooja, 2009; Gopal, 2006). Economic constraints remain among the most serious challenges, as

many women representatives lack independent income sources and financial security, creating dependence on male family members and restricting political autonomy (Abeer, 1999; Finance Department, Government of Bihar, 2019).

To transform women's participation from symbolic presence into substantive leadership, the following interventions are essential:

1. **Strengthening capacity-building mechanisms** through mandatory, ongoing training programs addressing legal literacy, financial management, public speaking, and digital skills
2. **Promoting gender-sensitive governance** by establishing internal complaint mechanisms, women's support desks, and monitoring systems to identify and address proxy representation
3. **Challenging entrenched patriarchal practices** through community awareness programs, male engagement initiatives, and media campaigns normalizing women's political leadership
4. **Enhancing economic empowerment** through linkages to financial inclusion schemes, livelihood programs, and honorarium structures that recognize political work
5. **Institutional reforms** including stricter enforcement of attendance requirements, secret ballot elections for leadership positions, and regular audits of decision-making processes

Reservation policies must be complemented by economic empowerment, political training, education, and social support systems to ensure meaningful and effective participation of women in the PRI system (Chandel & Chandel, 2016). Without these complementary interventions, Bihar's pioneering 50% reservation policy risks remaining an unrealized promise of democratic empowerment.

References:

1. Abeer, N. (1999). Resources, agency, achievements: Reflections on the measurement of women’s empowerment. *Development and Change, 30*(3), 435–464. https://doi.org/10.1111/1467-7660.00125
2. Agrawal, P. K. (2018). *Bharat mein panchayati raj*. New Delhi, India: Prabhat Prakashan.
3. Arora, K. R., & Hooja, M. (2009). *Panchayati raj participation and decentralization*. Jaipur, India: Rawat Publications.
4. Arya, S. (2013). National Commission for Women: An overview of its performance. *Economic and Political Weekly, 48*(18), 112–119. Retrieved June 25, 2019, from JSTOR database.

5. Aslam, M. (2007). *Panchayati raj in India*. New Delhi, India: National Book Trust.
6. Bhattacharya, G. (2013). *Panchayati raj, women participation and rural development*. New Delhi, India: Manohar Books.
7. Chandel, D. D., & Chandel, D. K. (2016). *Panchayati raj aur mahila sahbhagita*. Jaipur, India: Aavishkar Publishers & Distributors.
8. Desai, N., & Thakkar, U. (2011). *Bhartiye samaj mein mahilayen*. New Delhi, India: National Book Trust.
9. Doshi, S. L., & Jain, P. C. (2017). *Rural sociology*. Jaipur, India: Rawat Publications.
10. Finance Department, Government of Bihar. (2019). *Bihar economic survey 2018–2019*. Patna, India: Government of Bihar.
11. Gandhi, M. K. (1963). *Village swaraj*. Ahmedabad, India: Navjivan Publishing House.
12. Gopal, N. (2006). Engendering local democracy: The impact of quotas for women in India’s panchayats. *Democratization, 13*(1), 136–146. https://doi.org/10.1080/13510340500378225
13. Government of Bihar. (2017, September 18). *Status of Panchayati Raj*. Retrieved from http://www.nrcddp.org/file_upload/Status%20of%20Panchayati%20Raj,%20Bihar.pdf

Manuscript Timeline
Submitted : *February 22, 2026* ***Accepted :*** *March 10, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

बाया : राष्ट्रभाषा के विकास में अनुवाद एवं कोशों की भूमिका

डॉ. मोहनन वी.टी.वी.[1]

सारांश

भा*षा किसी भी समाज की सांस्कृतिक स्मृति, ज्ञान-परंपरा और सामूहिक पहचान का प्रमुख आधार होती है। अनुवाद विभिन्न भाषायी समुदायों के मध्य संवाद, विचार-विनिमय तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रभावी माध्यम बनकर कार्य करता है। अफ्रीका में राष्ट्रभाषाओं के विकास, शिक्षा के प्रसार, ईसाई धर्म के प्रचार तथा अनुवाद-परंपरा का विकास परस्पर संबद्ध प्रक्रियाएँ रही हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में कैमरून तथा मध्य अफ्रीका क्षेत्र में प्रचलित बाया (Gbaya) भाषा के विकास और उसमें अनुवाद की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ईसाई मिशनरियों ने धार्मिक ग्रंथों, विशेषतः बाइबल, के अनुवाद को स्थानीय भाषाओं के विकास का माध्यम बनाया। इसके साथ ही उन्होंने विद्यालयों, अनुवाद-केंद्रों तथा शब्दकोशों की स्थापना और निर्माण द्वारा बाया भाषा के मानकीकरण, संरक्षण तथा संवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बाया अनुवाद केंद्र ने न केवल धार्मिक साहित्य के अनुवाद को प्रोत्साहित किया, बल्कि शिक्षा, साहित्य-सृजन, शब्दकोश-निर्माण तथा सांस्कृतिक जागरण की प्रक्रियाओं को भी गति प्रदान की। इस प्रकार बाया भाषा का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि अनुवाद केवल भाषायी रूपांतरण की प्रक्रिया नहीं, बल्कि भाषा-विकास, सांस्कृतिक संरक्षण, साक्षरता-वृद्धि तथा राष्ट्रीय चेतना के निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन है।*

प्रमुख शब्द (Keywords): *बाया (Gbaya) भाषा; अनुवाद अध्ययन; अफ्रीकी भाषाएँ; राष्ट्रभाषा विकास; ईसाई मिशनरी; भाषा संरक्षण; शब्दकोश-निर्माण।*

भाषा संस्कृति की सबसे स्थायी कला-कृतियों में से एक है। अतः व्यक्ति की पहचान संस्कृति से होती है। भाषा संस्कृति का मुख्य वाहन होता है जिसके बलबूतों पर संस्कृति का आदान-प्रदान होता है। भाषा व्यक्ति को समाज से जोड़ती है और वह समाज मूलतः संस्कृति की श्रेणीबद्धता का परिचायक है। देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवनानुभवों को विकासोन्मुखी पथ पर आगे बढ़ाने में राष्ट्रभाषा की अहम् भूमिका होती है। राष्ट्र के समग्र विकास, एकता तथा समभावना को संतुलित करने में राष्ट्रभाषा सेतुबंधन का कार्य करती है। उस भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपने चिंतन-मनन पद्धतियों को साकार करने में विजय कर पाता है। जहाँ भाषा राष्ट्र

[1] एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, सर सैयद कॉलेज (कण्णूर विश्वविद्यालय), तलिपरंबा (केरलम).
ई-मेल.- mohananhcu@gmail.com

में समाहित संस्कृतियों को जोड़ती है वहाँ अनुवाद समस्त भाषाओं में एकता का स्वर पैदा करता है। जहाँ भाषाएँ अलग हों, जहाँ व्यक्ति की जीवन-धाराएँ अलग हों, वहाँ अनुवाद ने गंभीरता पूर्वक मानव को जोड़ा।

अफ्रीका में राष्ट्रभाषा तथा अनुवाद-साहित्य का विकास, ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार, शिक्षा का विकास आदि अन्योन्याश्रित रहे जिसके फलस्वरूप जनता में राष्ट्रीय भावना जगी, साहित्य आगे बढ़ा। ईसाई धर्म प्रचार के प्रसार में मिशनरियों को बहुत सारी चुनौतियों का सामना करना पड़ा। आपसी संपर्क तथा विचार-विनिमय के साधन के रूप में भाषा का उपयोग नहीं कर पा रहा था क्योंकि अफ्रीका में मात्र एक भाषा नहीं थी। ईसाई मिशनरियों ने अनुवाद को प्रोत्साहन किया और व्याकरण ग्रंथों की रचना तथा शब्द-कोशों का संकलन किया। कोले (Koelle), मेनहॉफ (Meinhof), मिगेड (Migead), पाइक (Pike), बेमबॉस (Bamgbose), अब्राहम (Abraham), गुथरे (Guthrie), ग्रीनबर्ग (Greenburg), म्यूसन (Meussen), वेल्मर्स (Welmers) आदि मिशनरी विद्वान अफ्रीकी भाषाओं में व्याकरण, भाषा विज्ञान तथा निघंडुओं के निर्माण में लगे रहे जो बाद में मिशनरी कार्यों में ही नहीं, भाषा-विकास के क्षेत्रों में भी सहायक रहे (Lioba & Akinloye, 2009)। ज्ञान-भंडार का अंतरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता गया और परवर्ती विद्वानों ने पाया कि जब भाषा का अंत हो जाता है तब समाज का भी अंत हो जाता है, इसलिए उन्होंने भाषा-संरक्षण हेतु अनेक कार्य किये।

कैमरून में बाया (Gbaya) : राष्ट्रभाषा का विकास एवं अनुवाद-

अफ्रीका में अनुवाद के ऐतिहासिक विकास का कोई प्रामाणिक साक्ष्य प्राप्त नहीं है। यह माना जाता है कि ई. पू. 250-130 के अंतराल में मिस्र देश में हीब्रू से यूनानी भाषा में धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद हुआ था। तीसरी सदी तक आते-आते कॉप्टिक भाषा में धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद होने लगा तथा यह अनुवाद परंपरा चौथी तथा पाँचवीं सदी तक इथियोपिया की भाषा गेज़ (Ge’ez) में भी आरंभ होने लगी थी।

‘The Coptic Encyclopedia’ में कॉप्टिक भाषा के बारे में यह लिखा गया है कि सातवीं सदी में मिस्र देश पर अरब देशों के आक्रमण काल तक कॉप्टिक भाषा मिस्र देश में प्रचलित थी (Atiya, 1991, p. 604)। सन् 706 में मिस्र के अरब वाइस-रॉय अब्द-अल्लाह (अब्द-अल-मालिक - Abd-Allah bin Abd-al-Malik) ने यह निर्णय लिया कि राजकाज के सभी कार्यों में मात्र अरब भाषा का प्रयोग करे। इस निर्णय का यह नतीजा हुआ कि साधारण जनता तक को अरबी भाषा सीखनी पड़ी और उस जनता की सामान्य भाषा कॉप्टिक धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। गेज़ (Ge’ez) भाषा उत्तरी एथियो-सेमेटिक भाषा थी जो अक्सुमी साम्राज्य की राजभाषा थी। वह भाषा चौथी तथा छठवीं सदी तक आते-आते अपनी विकास-यात्रा के शिखर पर पहुँच गयी (Gragg, 1995, p. 169)। कॉप्टिक भाषा में अनुवाद की आवश्यकता स्थानीय जनता की सेवा हेतु थी जबकि गेज़ (Ge’ez) भाषा में अनुवाद अक्सुमाइट (Aksumite) राजघरानों द्वारा एथियोपिया (Ethiopia) के गिरजाघरों के विकास हेतु किया गया था। अक्सुमाइट राजघरानों ने सीरिया तथा मिस्र के ईसाई मिशनरियों के विचार-विनिमय के साधन के रूप में चौथी सदी में अनुवाद का उपयोग किया। गेज़ (Ge’ez) भाषा में प्राप्त नमूनों के आधार पर यह माना जाता है कि सन् 390 तथा 570 के बीच यूनानी भाषा से अनूदित ‘सुसमाचार’

सबसे प्राचीन अनुवाद है। गारिमा सुसमाचार एथियोपिया के गारिमा धार्मिक-मठ में प्राप्त है जो सबसे प्राचीन ईसाई कला का दस्तावेज़ है।

अठारहवीं सदी में गेज़, अरबी आदि दो प्रमुख अफ्रीकी भाषाओं में बाइबल का अनुवाद हुआ जबकि नये नियम का अनुवाद कॉप्टिक भाषा में हुआ। ईसाई मिशनरियों ने अफ्रीका में मात्र अनुवाद को ही नहीं, शिक्षा की सुविधा बढ़ाने के सारे प्रयत्न किये। उन्होंने यह पाया कि जब तक पाठक वर्ग अशिक्षित हो तब तक बाइबल के अनुवाद-कार्य से कोई मतलब नहीं है (Mojola, 2020, p. 5)। सन् 1835 में मेडागास्कर (Madagascar) की मलगाज़ी (Malagasy) तथा सन् 1840 में एथियोपिया के एमैरिक (Amharic) भाषाओं में सर्वप्रथम बाइबल के अनुवाद किये गये। बाइबल सोसाइटी संघ (United Bible Society) के अनुसार सन् 1984 तक 286 भाषाओं में बाइबल के अनुवाद हुए, जिनमें 109 भाषाएँ अफ्रीका की हैं।

अफ्रीका में राष्ट्रीय भाषाओं का विकास एवं अनुवाद कार्य अन्योनाश्रित था। इज़ुबू (Isubu), दौला (Douala), इवोन्डो (Ewondo), बुलू (Bulu), फुलफुलडे (Fulfulde), मुंगाका (Mungaka), बॉमौन (Bamoun) आदि स्थानीय भाषाएँ विकसित हो चुकीं, जिनमें सुसमाचारों का अनुवाद भी प्राप्त हुआ। अफ्रीका में अनुवाद-साहित्य को आगे बढ़ाने में बाया अनुवाद केन्द्र (Gbaya Translation Centre) की महत्वपूर्ण भूमिका रही। बाया अफ्रीकी की भाषा है जो बाया-मेसा-बाक (Gbaya-Manza-Ngbaka) नाम से भी जाना जाता है। यह पश्चिम मध्य अफ्रीका तथा कैमरून के सीमा प्रांतीय स्थलियों में व्यापक रूप से बोली जाती है। यह जनता धीरे-धीरे अफ्रीका के पश्चिम दिशा की ओर पलायन कर ओबांगी (Oubangui) नदी के घाट पर रहने लगे (Burnham, 1981, p. 123)। बाया भाषा में अनेक बोलियाँ समाहित हैं, जैसे यायूवी (Yaayuwee), ले (Lay), मोन्डोम (Mondome), गैंगिंडा (Ganginda), डूका (Dooka), गेमोना (Gaymona), बुसुकू (Mbusuku) तथा यांगेल (Yaangele)। बाया अनुवाद केन्द्र मात्र यायूवी (Yaayuwee) बोली पर केन्द्रित है जिसका इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। बाया भाषा के विकास में यूरोप के दो प्रमुख संघों का महत्वपूर्ण योगदान है। एक वे हैं जो जर्मन के नृवंश वैज्ञानिक, अनुवादक एवं भाषाविद् हैं और दूसरा ईसाई मिशनरी संघ है जो कैमरून में आए थे। अमरीका के ईसाई मिशनरी संघ 'सुडान मिशन' इनमें प्रमुख है जो सन् 1924 में बोला (Mboula) तथा मीगंगा (Meiganga) में धार्मिक प्रचार-प्रसार करने लगे (Delisle & Woodsworth, 1995, p. 52)। बाया भाषा तथा संस्कृति के संरक्षण तथा प्रगतिशील प्रवृत्तियों को जागृत करने तथा उनमें विकास लाने में बाया अनुवाद केन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान रहा। सन् 1924 में सुडान मिशन (Sudan Mission) ने गोन्डेरे (Ngaoundere) में इसकी स्थापना की, जो बाद में मीगंगा (Meiganga) नामक जगह पर बदल गया।

शिक्षा, धार्मिक प्रचार-प्रसार, राष्ट्रीय भाषा का विकास, अनुवाद आदि बाया भाषा के संबन्ध में अन्योन्याश्रित हैं। ईसाई मिशनरियों ने बाया भाषा-भाषियों में शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था शुरू की, तदनुरूप उन्होंने धार्मिक प्रचार-प्रसार के साधन के रूप में अनुवाद को चुना और बाइबल का बाया भाषा में अनुवाद किया। 18 फरवरी 1996 को यह घोषणा की गई कि "बाया जनता को अपना बाइबल प्राप्त हुआ। यह मात्र

मिशनरी कार्यकर्ताओं की देन थी कि उन्होंने बाया जनता की राष्ट्रभाषा का संरक्षण किया, साथ-साथ उस जनता में शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय भावना जगायी। 9 जून 2012 को बाइबल के प्रथम संस्करण का समर्पण कैमरून और अफ्रीका गणराज्य की सीमा पर स्थित बौलाई शहर के मैदान में हुआ जहाँ यह घोषणा की गई कि "ईश्वर ने हमसे हमारी अपनी भाषा में बात की है (Noss, 2015, p. 53)।" बाया भाषाई समाज के संगठन के उच्च शिक्षित विद्वानों ने ईसाई मिशनरियों की सहायता की। जोसेफ गर्बा (Joseph Garba) इस संगठन के नेता थे जिन्होंने ईसाई मिशनरियों से ईसा मसीह के जीवन-चरित का बाया भाषा में अनुवाद करने की सहायता माँगी। पॉल बरोरो (Paul Baroro) तथा डेनियल मबरकाओ (Daniel barakao) प्रान्तीय पादरी थे जिन्होंने बाया भाषा में सुसमाचारों का व्याख्यान दिया। अक्वा पोन्डो (Akwa Mpondo), टिंबा (Timba), एन्ड्री बैन्गु (Andre bange) आदि बाया समाज के भाषा विदों की इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका रही। अमरीका के सुडान मिशन (Sudan Mission) के मिशनरी प्रवक्ता पादरी एडोल्फ गुंडेर्सन (Adolphus Gunderson),उनकी पत्नी अन्ना (Anna) तथा उनके सहायक ओलेट्टे बर्नस्टन (Olette Bernsten), एन ओल्सन (Anne Olsen) 28 जनवरी 1924 को बाया में आए। गुंडेर्सन प्रमुख भाषाविद् थे और उन्होंने बाया भाषा सीखी। उन्होंने बाया भाषा में धार्मिक पाठ तथा ग्रंथों का अनुवाद किया। सुडान मिशन ने स्कूलों की स्थापना की जिसके कारण बाया जनता में शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था शुरू हुई। बाया-पुस्तिकाओं का प्रथम प्रकाशन सन् 1933 तथा 1934 में फ्रांसीसी, बाया तथा फुलफुलडे (Fulfulde) भाषाओं में हुआ। इसे बाया भाषा में अनुवाद का प्रथम प्रयास माना जाता है। सन् 1934 तथा 1952 के बीच अनुवाद प्रक्रिया की नींव बाया भाषा में डाली गयी। गुंडेर्सन के नेतृत्व में बाया भाषाई जनता में शैक्षिक विकास के कार्य शुरू हुए। सन् 1950 में बाइबल-स्कूल की स्थापना बबोवा (Baboua) में शुरू की गयी।

पाठ्य-पुस्तिकाओं के साथ-साथ अनुदित रचनाएँ भी बाया भाषा में प्राप्त होने लगीं। सन् 1963 में 'Pilgrim's Progress' का बाया भाषा में जोसेफ बिसोहोंग (Joseph Bissohong) नामक बाया निवासी ने 'नेनो को क्रशीन (Neno ko chretien) नामक शीर्षक में अनुवाद किया। सन् 1964 में एक अज्ञात नामा अनुवादक पॉल व्हाइट (Paul White) के 'Jungle Doctor' नामक रचना का अनुवाद किया तथा सन् 1969 में मार्थे होमा यागोर्ग (Marthe Houma Yagong) ने एसोप के फेबिल्स' (Aesop's Fables) का अनुवाद किया। सन् 1970 दिसंबर को कैमरून के ईवैजलिकल लुथरन चर्च (Evangelical Lutheran Church of Cameroon - EELC) के शिखरस्थ विद्वान तथा बाया भाषाविदों की बैठक हुई, जिसमें यह तय किया गया कि बाइबल का संपूर्ण अनुवाद बाया भाषा में प्राप्त कराए। इस बैठक में बाया भाषा में अनुवाद तथा साहित्य के विकास हेतु एक केंद्र के निर्माण संबंधी चर्चाएँ भी हुईं, जिसके फलस्वरूप मिनेपोलिस (Minneapolis) में बाया अनुवाद केंद्र की स्थापना की गई। यूजीन नाइडा (Eugene Nida) के गत्यात्मक समतुल्यता (Dynamic Equivalence) सिद्धांत का व्यावहारिक इस केंद्र में अध्ययन अध्यापन हुआ। सन् 1974 तथा 76 के अंतराल में इस अनुवाद केंद्र में बाइबल तथा धर्म संबंधी ग्रंथों के अनेक अनुवाद हुए। इसके तुरंत बाद, महिला शिक्षण, स्वास्थ्य-पुस्तिकाएं, साहित्य संबंधी पुस्तकिएँ, बालकों के लिए हितोपदेश की कहानियाँ, छात्रों की पुस्तिकाएँ आदि रचनाएँ भी इस केंद्र से प्रकाशित हुईं।

भाषा, साहित्य एवं अनुवाद प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में कोशों का योगदान महत्वपूर्ण है। जीन रेने कोलोक (Jean Rene Calloc'h) जाने-माने ईसाई मिशनरी तथा भाषाविद् थे जिन्होंने बाया भाषा में ईसाई धर्म के प्राथमिक सिद्धांतों का अनुवाद किया। उनको उद्धृत करते हुए फिलिप ए. नोस अपने आलेख 'Bible Translation, Dictionaries, and Language Development: The Case of Gbaya' में यह मानते हैं कि कोश भाषा एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है और वह भाषा-भाषियों के जीवन का अंकन करता है (Noss, 2015, p. 71)। मैडल नोस्टबेकन (Madel Nostbakken) ने 'Dictionary: Baya-English English-Baya' शीर्षक में 116 पृष्ठ के कोश का संकलन किया जो इस क्षेत्र में पहला कदम था। बाया अनुवाद केंद्र की ओर से कैथोलिक पादरी वेस ब्लनकार्ड (Yves Blanchard) ने बाया-फ्रांसीसी शब्दकोश का संकलन किया। उपर्युक्त अनुवाद केंद्र तथा वेस ने 'Dictionnaire gbaya francais: dialecte Yaavuwee' नामक शब्दकोश का संकलन किया, जिसका द्वितीय संस्करण सन् 2008 में हुआ। 553 पृष्ठों के इस शब्दकोश में कोश-निर्माण की प्रक्रिया, भाषाई टिप्पणियाँ, कोशगत सिद्धांत, संदर्भ ग्रंथ आदि शब्दकोश सम्बन्धी लगभग सारी सूचनाएँ प्राप्त हैं। वैज्ञानिक शोध का राष्ट्रीय केंद्र (National Center for Scientific Research – (NRS) तथा प्राच्य भाषा तथा के राष्ट्रीय संस्थान शब्दकोश संबंधी शोध में लगे रहे हैं, जिसके फलस्वरूप रोलन (Roulon) ने सन् 2004 में Dictionnaire gbaya-francais (Republique Centrafricaine) नामक शब्द-कोश का संकलन किया। ये शब्द-कोश बाया समाज, उनकी भाषा तथा संस्कृति को नये सिरे से प्रतिबिंबित करने में सहायक रहे।

बाया भाषा में राष्ट्रीय चेतना का विकास ईसाई मिशनरियों की देन है। राष्ट्रीय चेतना का मतलब बाया समाज में लड़ाई का सवाल नहीं था, वह सहकारिता के बलबूतों पर खड़ी थी। जिस धार्मिक प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर ईसाई मिशनरियों ने बाया समाज में कार्य किये थे, उसका अंततः सद् परिणाम उस समाज पर पड़ा जहाँ भाषा समझी जाती थी। मगर, उनमें लिखने-पढ़ने की प्रवृत्ति नहीं थी। ईसाई मिशनरियों ने बाया समाज एवं भाषा के विकास हेतु स्कूलों की स्थापना की और अनुवाद प्रशिक्षण केंद्रों की स्थापना की। उन्होंने माना कि जब तक समाज में पाठक वर्ग नहीं हो तब तक साहित्य-रचना से कोई मतलब नहीं है। इसलिए मिशनरियों ने बाया जनता को शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था का प्रारंभ किया। बाइबल के माध्यम से धार्मिक अध्ययन का प्रारंभ किया। जिन्हें शिक्षा प्राप्त हुई, उन्होंने अनुवाद को उत्तम दर्जे के विचार-विनिमय का साधन माना। अनुवादकों में ईसाई मिशनरियों के साथ-साथ बाया समाज के शिक्षित भी थे जिन्होंने इस साहित्य-शाखा को आगे बढ़ाया। मानक शब्द-कोशों का संकलन बाया भाषा में विकसित होने लगा। बोलचाल की भाषा, संचार-माध्यम, अनुवाद का उत्तम नमूना आदि जीवंत भाषा के सारे ज्वलंत रेखांकन बाया भाषा में प्राप्त है।

संदर्भ-

- Atiya, A. S. (Ed. in Chief). (1991). *The Coptic encyclopedia* (Vol. 2, p. 604). Macmillan Publishing Company.

- Burnham, P. (1981). Notes on Gbaya history. In *Contributions of ethnological research to the history of Cameroon cultures* (Vol. 1, p. 123). Centre National de la Recherche Scientifique.
- Delisle, J., & Woodsworth, J. (Eds.). (1995). *Translators through history* (p. 52). John Benjamins Publishing Company & UNESCO Publishing.
- Gragg, G. (1995). Ge'ez phonology. In A. S. Kaye (Ed.), *Phonologies of Asia and Africa* (Vol. 1, p. 169). Eisenbrauns.
- Lioba, M., & Akinloye, O. (Eds.). (2009). *Pedagogy and use of language in Africa* (Foreword & Introduction). Adonis & Abbey Publishers.
- Mojola, A. O. (2020). *God speaks my language: A history of Bible translation in East Africa* (p. 5). Hippo Books.
- Noss, P. A. (2015). Bible translation, dictionaries and language development: The case of Gbaya. In I. Rauch (Ed.), *Language vitality through Bible translation* (Vol. 95, p. 53). Peter Lang.
- Noss, P. A. (2015). Bible translation, dictionaries and language development: The case of Gbaya. In I. Rauch (Ed.), *Language vitality through Bible translation* (Vol. 95, p. 71). Peter Lang.

टिप्पणियाँ (Notes):

1. Many of these missionaries engaged in the translation of the Bible in the languages of their converts and in the process inspired early linguistics scholars who developed an interest in the development of grammars and dictionaries. Many African linguistic scholars of later days were inspired by the works of early scholars like Koelle (1854: Polyglotta Africana); Meinhof (1905-1906) on the phonology of Bantu languages; Migeod (1911) on the languages of West Africa; Doke (1943, 1945) on the grammar of Bantu, phonetics and lexicographical studies; Pike (1948) on tone languages; Bamgbose (1966) and Abraham (1967) on the grammar of languages such as Yoruba and Igbo; Guthrie (1967) who authored two volumes on comparative Bantu; Greenberg (1955, 1963) on African linguistics classification, and the languages of Africa;

Meeussen (1967) on the reconstruction of Bantu grammar; and Welmers (1973) on the structures of African languages, to name only a few.

2. Coptic was the spoken language of ancient Egypt until the Arab conquest of Egypt in the seventh century.

3. Ge'ez, a Northern Ethio-Semitic language, was the official language of the Axumite kingdom which occupied large number of present-day highland Eritrea and the Northern Ethiopian province of Tigre during much of the first millennium A.D., reaching the height of its power and regional influence between the fourth and sixth centuries.

4. Translation work was inextricably linked with literacy and education. The pioneer missionary translators not only developed literacy programs to teach people how to read.

5. As a whole, these populations, rather than migrating from the north seem to have moved in a westerly direction, although these movements were probably only gradual and apparently did not cover great distances. We can safely say that for as far back as written documents and Gbaya oral accounts give us evidence, the Gbaya and their close relatives have been located in the area to the north and west of the Oubangui river.

6. The ecclesiastics of the Sudan Mission from the United States, for example, arrived at Mboula and Meiganga in 1924 and played a pioneering role in promoting the Gbaya language.

7. On the 9th June 2012 the proclamation was made, God has spoken to us in our own language. The venue was the parade grounds of the city of Garoua Boulai on the border of Cameroon and the Central African Republic; the occasion this time was the dedication of the first edition of the Gbaya Bible that included the deuterocanonical books, and the launching of the second edition of the 1995 Bible.

8. It holds the words, reminding us of their existence, offering explanations, and reflecting the customs and practices of the people who speak those words. A dictionary presents the language and culture that constitute the very essence of the speakers of the language.

Manuscript Timeline
Submitted : *March 07, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

हिंदी की संघर्ष यात्रा और उसकी अंतरराष्ट्रीय स्थिति

डॉ. एच.ए. हुनगुंद[1]

सारांश

हिंदी भाषा की विकास-यात्रा भारतीय सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय अस्मिता के संघर्ष से गहराई से जुड़ी हुई है। हिंदी ने प्राचीन अपभ्रंश एवं लोकभाषाओं से विकसित होकर मध्यकालीन भक्ति आंदोलन, आधुनिक भारतीय नवजागरण तथा स्वतंत्रता संग्राम में जनभाषा के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व तथा भाषाई राजनीति के बीच हिंदी को अपनी पहचान स्थापित करने के लिए निरंतर संघर्ष करना पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान में हिंदी को राजभाषा का दर्जा प्राप्त हुआ, किंतु व्यवहारिक स्तर पर अंग्रेज़ी के प्रभाव, क्षेत्रीय भाषाओं के प्रश्न तथा वैश्वीकरण की चुनौतियों ने हिंदी के समक्ष अनेक नई समस्याएँ उपस्थित कीं। इसके बावजूद हिंदी ने साहित्य, पत्रकारिता, सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन तथा डिजिटल माध्यमों के द्वारा व्यापक जनस्वीकृति प्राप्त की है। वर्तमान समय में हिंदी केवल भारत की भाषा नहीं रह गई है, बल्कि विश्व के अनेक देशों जैसे Mauritius, Fiji, Suriname, Nepal, United States और United Kingdom में हिंदी भाषा और साहित्य का अध्ययन, शिक्षण तथा प्रयोग निरंतर बढ़ रहा है। प्रवासी भारतीय समुदाय, हिंदी सिनेमा, सोशल मीडिया और सूचना प्रौद्योगिकी ने हिंदी के वैश्विक प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की उपस्थिति संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा बनने की संभावनाओं को भी बल प्रदान करती है। यद्यपि तकनीकी शब्दावली, उच्च शिक्षा में सीमित प्रयोग तथा भाषाई प्रतिस्पर्धा जैसी चुनौतियाँ अभी भी विद्यमान हैं, फिर भी हिंदी का वैश्विक प्रभाव निरंतर विस्तार प्राप्त कर रहा है। यह शोध-पत्र हिंदी की ऐतिहासिक संघर्ष-यात्रा, उसकी वर्तमान अंतरराष्ट्रीय स्थिति तथा भविष्य की संभावनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द (Keywords): *हिंदी भाषा, संघर्ष यात्रा, राजभाषा, वैश्वीकरण, अंतरराष्ट्रीय स्थिति, प्रवासी भारतीय, हिंदी साहित्य, डिजिटल माध्यम, सांस्कृतिक अस्मिता, विश्व हिंदी।*

प्रस्तावना-

भाषा मनुष्य को संस्कार देती है। दुनिया का कोई भी व्यक्ति बिना भाषा संस्कार के जीवन के व्यापक परिवेश को आत्मसात नहीं कर सकता। जिस देश का भाषा संस्कार व्यापक तथा सदृढ़ होता है, वही देश आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वांगीण विकास करता है। भारत ने हजारों साल पहले अपने को

[1] एसोसिएट प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग, भाषा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र). ई-मेल.- hahungund@gmail.com

विश्व के श्रेष्ठतम राष्ट्र के रूप में स्थापित किया था। उस समय संस्कृत और प्राकृत पूरे देश की भाषा बनी। हिन्दी भाषा इतिहास के पन्ने पलटने से यह पता चलता है कि समय के साथ उसने अपने रूप को बदलते हुए समकालीन जनमानस की वाणी बनकर अपना महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आधुनिक काल में आते-आते खड़ी बोली का रूप धारण करते हुए समस्त भारतवासियों का आदान-प्रदान का माध्यम बनी हिन्दी भाषा प्रचानीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अपनी संघर्ष यात्रा करती हुई समय के साथ कदम बढ़ाते हुए, भारत की स्वतंत्रता आंदोलन की मशाल की भूमिका अदा करते हुए देश के कोने के प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता आंदोलन के महत्त्व और उसके लक्ष्य को जनता तक पहुँचाने में एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनकर अपना कर्तव्य निभाई है।

देश की आजादी के बाद संविधान सभा की आम चर्चा में हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार करने काप्रस्ताव रखी गई तो अनेक विरोधों के बावजूद हिन्दी को सर्व सहमति से 14-9-1949 को संविधान सभा ने संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया। अनुच्छेद 343 (1) के तहत हिन्दी संघ की राजभाषा बनी और लिपि देवनागरी बनी। संघ के शासकीय प्रयोजन के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप को स्वीकार किया गया। इससे हिन्दी की संघर्ष एवं विकास यात्रा की गति और बढ़ने लगी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो काफी समय पहले ही मिल चुका था। संविधान में कोई प्रस्ताव न हो फिर भी उसको जनता की मान्यता थी। हिन्दी को राजभाषा का दर्जा प्राप्त होने के बाद भी उसकी संघर्ष यात्रा नहीं रुकी उसे अंग्रेजी के साथ हमेशा संघर्ष करना पड़ रहा है। यह भारतवासियों के लिए दुःख की बात है। खैर जो भी हो आज हिन्दी अपने आप में काफी मजबूत हो गई है। आज ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपना स्थान कायम कर चुकी है।

वैश्वीकरण के इस दौर में हिन्दी भाषा भारत के संघ की भाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा का रूप धारण करते हुए विश्व भाषा की ओर उन्मुख हो रही है। बाजारीकरण के कारण से भी हिन्दी भाषा को आज विश्व की प्रमुख भाषाओं में गिना जा रहाहै। विश्व के अनेक देशों में भारत की संस्कृति, परिवेश और राजनीति, आर्थिक एवं धार्मिक मैत्री भाव आत्मसात करने के लिए हिन्दी भाषा के लिए गर्व का विषय है, विदेशियों द्वारा हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने के कुछ और भी कारण है हिन्दी साहित्य को पढ़ने की रुचि, भारत में गुप्त चरी के काम आदि साथ ही साथ सरकार द्वारा देश की अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण की घोषणा के बाद भारत में विदेश व्यापार और उद्योग द्वारा निवेश की संभवानाएँ बढ़ गई अनेक देशों की कम्पनियों के यहाँ पर आने की उम्मीद बन गई है इन देशों के युवकों एवं युवतियों को आशा है कि यदि वे भारत की सर्वाधिक प्रचलित भाषा अर्थात हिन्दी सीख लेंगे तो उन्हें इन कम्पनियों में काम मिल सकता है, इन सारे कारणों से आज हिन्दी की मांग बढ़ रही है।

हिन्दी आज विश्व की भाषा बनने की आखिरी मंजिल पर है। इस तरह हिन्दी आज पूरे भारत के हर प्रांत या राज्य के जनमानस की जुबान बनी है सिके अलावा विश्व के अनेक देशों में भी हिन्दी बोली और समझी जाती है। आज विश्व के करीब 150 देशों में हिन्दी की व्यवस्थित पढ़ाई व कक्षाएँ नियमित रूप से चल रहीं हैं। निश्चय ही आज यह कह सकते हैं कि, हिन्दी शुरुआत में एक प्रादेशिक बोली होते हुए अपनी अथक संघर्ष

यात्रा के कारण सफल होते हुए विभाषा (भाषा, राजभाषा) राजभाषा, संपर्क भाषा तक पहुँची है। वैज्ञानिक एवं तकनीक युग के इस दौर में हिन्दी का उपयोग जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं वैसे ही सुविधाएँ भी सामने आ रहे हैं, इस दिशा में सी-डैक पुणे और राजभाषा विभाग ने हिन्दी के अनेक सॉफ्टवेयर तैयार करके हिन्दी को तकनीकी से जोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं, साथ-साथ हिन्दी का विकास यात्रा को गति दे रहे हैं। इन दो संस्थाओं के संयुक्त रूप से तैयार की गई सॉफ्टवेयर, मंत्रा और लीला हिन्दी प्रबोध, प्रवीण, प्राज्ञ, विरोज वातावारण, इंटरनेट तथा मोबाइल के जरिए हिन्दी सीखने का सॉफ्टवेयर भी है। इसके अलावा देश के अनेक हिन्दी सेवी संस्थाओं ने अपने नये नये सॉफ्टवेयर तैयार करके हिन्दी जगत को लोकार्पण कर रहे हैं। हिन्दी प्रचार एवं प्रसार करने में जो-जो संस्थाएँ अपने नए-नए सॉफ्टवेयर को ले कर आ रहे हैं ये सभी टेकनॉलिजी क्षेत्र में मील के पत्थर हैं।

हिन्दी की संर्घष यात्रा के संदर्भ में हिन्दी केवल भारत में ही नहीं विश्व के अनेक देशों में आज बोली और समझी जाती है। लगभग 150 देशों में हिन्दी की औपचारिक शिक्षा दी जा रही है। यह समय की मांग है। विश्व के अनेक देशवासियों के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन गई है। प्रमुख रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, रूस, ब्रिटेन, जर्मन, फ्रान्स, हौलेंड, स्विटजरलैंड, डेनमार्क, नार्वे, इब्ली, पोलैंड, चेक गणराज्य, हंगेरी दक्षिण अफ्रीका, जापान, दक्षिण कोरिया, ऑस्ट्रेलिया, मैक्सीको, क्यूबा बेलिजियम, फिनलैंड, रोमानिया, उक्रेन, क्रोवेशिया, चीन, मंगोलिया, तुर्की, उज्बेकिस्थान, थाईलैंड आदि देशों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इसके अलावा जहाँ काफी संख्या में भारतीय रहते हैं, वहाँ के देशों के कई स्कूलों मेंहिन्दी का अध्ययन अध्यापन हो रहा है और ये देश हैं अर्जेंटीना, ईराक, ईरान, इंडिनोशिया, ओमान, कतर, कुवैत, केन्या, जांबिया, तांजनिया, मलेशिया, यमन, लेबनान, साउदी अरब, सिंगापुर, आदि देशों में हिन्दी की नियमित कक्षाएँ चल रही है।

अप्रवासी भारतीय आबादी वाले देशों में तो काफी संख्या में स्कूल और कालेजों में अनिवार्य रूप से हिन्दी भाषा पढ़ाई जाती है। वे देश हैं मारिशश, फीजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद, देबेग आदि इसके अलावा भारत के पड़ोसी देशों में भी हिन्दी पढ़ने और समझने वाले लोग कापी संख्या में हैं। वे देश हैं पाकिस्तान, श्रीलंका, बंग्लादेश, नेपाल, भूटान, बर्मा में हिन्दी का प्रशिक्षण हो रहा है। पाकिस्तान के लाहौर और कराची विश्वविद्यालयों में हिन्दी स्कूल मार्डन लैंग्वेज विभाग में हिन्दी को सर्टिफिकेट और डिप्लोमा के स्तर पर पढ़ाई जा रहीं है। साथ ही साथ नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर और पी-एच.डी. के स्तर पर पढ़ाई जा रही है। बांग्लादेश में हिन्दी के चार वर्षीय कोर्स हैं। इंडियन इन्टरनेशनल स्कूल में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था है। भूटान के पाँच स्कूलों में तथा बर्मा के अनेक स्कूल और धर्मशालाओं में और गैर-सरकारी स्कूल में भी हिन्दी शिक्षा दी जाती है।

हिन्दी भाषा अपनी संघर्ष यात्रा को चुनौती देते हुए अपने आप में सफल हो चुकी है। अविरत संघर्ष करते हुए आज तीव्रगति से विकास मान भारत की राजभाषा है। ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनी है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी क्षेत्र में क्रांति की वाणीबन गई है बोलनेवालों की संख्या के आधार पर आज विश्व में सबसे अधिक बोली व समझी जाने वाली भाषा है। डॉ. जयंती प्रसाद नौटियाल ने भाषा शोध अध्ययन 2005 हवाले से लिखा है कि विश्व में हिन्दी जाननेवालों की संख्या एक अरब दो करोड़ पच्चीस लाख दस हजार तीन सौ बावन

(102,25,10,352) है। जबकि चीनी जानने वालों की संख्या केवल नब्बे करोड़ चार लाख छह हजार छह सौ चैदह है (90,04,06,614) है। इस तरह संख्या की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा विश्व में प्रथम स्थान पर है। संभवतः इसी कारण अमेरिका राष्ट्रपति जार्ज बुश ने अपने देशवासियों से देश की सुरक्षा और समृद्धि के लिए हिन्दी सीखने की अपील की है। हिन्दी बहुत कम समय में अपनी भगीरथ प्रयत्न के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकारिक भाषा बनने और विश्व की जुबान बनने की क्षमता हासिल की है। यह हम भारतीयों के लिए गर्व की बात है। हमें विश्वास है कि हिन्दी भाषा को संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारिक भाषा दर्जा प्राप्त होगी इससे विश्व शांति और विश्व मैत्री बढ़ेगी।

निष्कर्ष-

हिंदी की संघर्ष यात्रा भारतीय इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना के विकास की एक महत्वपूर्ण गाथा है। यह यात्रा केवल एक भाषा के विकास की कहानी नहीं, बल्कि भारतीय समाज की सांस्कृतिक अस्मिता, सामाजिक एकता और लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति के विस्तार का इतिहास भी है। मध्यकालीन लोकभाषाओं और बोलियों से विकसित होकर हिंदी ने आधुनिक युग में साहित्य, पत्रकारिता, शिक्षा और प्रशासन की भाषा के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित की। औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी के प्रभुत्व तथा स्वतंत्रता के पश्चात भाषाई राजनीति और क्षेत्रीय भाषाओं के साथ संतुलन स्थापित करने जैसी चुनौतियों के बावजूद हिंदी ने निरंतर प्रगति की है। भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी ने राष्ट्रीय स्तर पर संवाद और संपर्क की भाषा का कार्य किया है। साहित्यकारों, पत्रकारों, शिक्षाविदों तथा सामाजिक आंदोलनों ने हिंदी को जनभाषा के रूप में सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आज हिंदी केवल भारत तक सीमित नहीं है, बल्कि विश्व के अनेक देशों में प्रवासी भारतीय समुदाय, शैक्षणिक संस्थानों, सांस्कृतिक संगठनों और डिजिटल माध्यमों के कारण व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रही है। विश्व हिंदी सम्मेलन, विश्व हिंदी सचिवालय तथा विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों में हिंदी अध्ययन की व्यवस्था ने इसके अंतरराष्ट्रीय स्वरूप को और सुदृढ़ किया है।

वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के युग में हिंदी के सामने नई संभावनाएँ और चुनौतियाँ दोनों उपस्थित हैं। एक ओर इंटरनेट, सोशल मीडिया और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के माध्यम से हिंदी की पहुँच वैश्विक स्तर पर बढ़ रही है, वहीं दूसरी ओर भाषाई शुद्धता, तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता और अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव जैसी चुनौतियाँ भी बनी हुई हैं। इसके बावजूद हिंदी की व्यापक जनस्वीकृति, समृद्ध साहित्यिक परंपरा और सांस्कृतिक आधार इसे विश्व भाषा बनने की दिशा में अग्रसर करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि हिंदी की संघर्ष यात्रा निरंतर गतिशील रही है और वर्तमान अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में इसकी स्थिति पहले से अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली हुई है। भविष्य में उचित भाषा-नीति, तकनीकी विकास और वैश्विक सहयोग के माध्यम से हिंदी विश्व समुदाय में और अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:

- पाण्डेय, मैनेजर. (2015). *हिंदी भाषा का समाजशास्त्र*. वाणी प्रकाशन.

- राय, आलोक. (2001). *हिंदी नेशनलिज्म*. ओरिएंट ब्लैकस्वान.
- शापिरो, माइकल सी. (1989). *ए प्राइमर ऑफ मॉडर्न स्टैंडर्ड हिंदी*. मोतीलाल बनारसीदास.
- सिंह, नामवर. (2011). *हिंदी भाषा: विकास और वैश्विक परिदृश्य*. राजकमल प्रकाशन.
- श्रीवास्तव, रविन्द्रनाथ. (1998). *लैंग्वेज, एजुकेशन एंड सोसाइटी: द इंडियन पर्सपेक्टिव*. सेज पब्लिकेशन्स.
- तिवारी, भोलानाथ. (2010). *हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास*. किताब महल.
- किंग, क्रिस्टोफर आर. (1994). *वन लैंग्वेज, टू स्क्रिप्ट्स: द हिंदी मूवमेंट इन नाइंटीन्थ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- भारत सरकार, विदेश मंत्रालय. (2023). *विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार एवं विश्व हिंदी सचिवालय की गतिविधियाँ*. प्राप्ति स्रोत: https://mea.gov.in

Manuscript Timeline
Submitted : *March 09, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

आधुनिक समाज में बच्चों पर सोशल मीडिया का बढ़ता प्रभाव

डॉ. सौम्या शंकर[1]

सपना[2]

सारांश

आज की डिजिटल युग में, सोशल मीडिया बच्चों और युवाओं की दिनचर्या का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है। बच्चे फेसबुक, इंस्टाग्राम, यूट्यूब और व्हाट्सऐप जैसे प्लेटफार्मों पर बहुत समय व्यतीत करते हैं। इसका प्रभाव उनकी सोच, व्यवहार, भाषा और मूल्यों पर धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा है। सोशल मीडिया के जरिए बच्चे नई जानकारी और अनुभव प्राप्त कर रहे हैं, जिससे उनकी सोच और दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहा है। जानकारी हासिल करने, अपनी क्षमताओं को प्रदर्शित करने और दुनिया से संवाद स्थापित करने का यह एक अनूठा तरीका है। बहुत से बच्चे ऑनलाइन शिक्षण के जरिये नई जानकारी प्राप्त करते हैं, नई चीजें सीखते हैं और अपनी रचनात्मकता को विकसित करते हैं। हालांकि, सोशल मीडिया के नकारात्मक पहलू भी चिंता पैदा करते हैं। कई मौकों पर बच्चे अनैतिक भाषा, हिंसात्मक सामग्री और बुरी आदतों का शिकार हो जाते हैं। बच्चों के स्वभाव में चिड़चिड़ापन, गुस्सा और अनुशासन की कमी देखी जा सकती है। इस स्थिति के चलते वे परिवार से धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं और मोबाइल की दुनिया में खो जाते हैं। कुछ बच्चों का ध्यान पढ़ाई, खेलकूद और अन्य सामाजिक गतिविधियों से भी भटकने लगता है। इसलिए माता-पिता और शिक्षकों के लिए यह महत्वपूर्ण है कि वे बच्चों को सोशल...मीडिया का उचित और संतुलित उपयोग सिखाना आवश्यक है, ताकि यह बच्चों के सकारात्मक विकास में सहायक बन सके।

मुख्य शब्द: *सोशल मीडिया, संस्कार, बच्चों, नैतिक मूल्य, डिजिटल संस्कृति, परिवार, शिक्षा, नोमोफोबिया (मोबाइल से दूर होने का भय)।*

प्रस्तावना-

21वीं सदी को सूचना और टेक्नोलॉजी का युग माना जाता है। वर्तमान में इंटरनेट और स्मार्टफोन ने हमारे जीवन के तरीके को पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया हैटेक्नोलॉजी के प्रति अधिक आकर्षित हो गया है। पहले के समय में लोग आमने-सामने मिलकर संवाद करते थे, लेकिन आजकल अधिकतर लोग एक-दूसरे से सोशल मीडिया के जरिए संपर्क में रहते हैं। फेसबुक, इंस्टाग्राम, यूट्यूब, व्हाट्सऐप और अन्य प्लेटफॉर्म अब बच्चों और युवाओं के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुके हैं। वर्तमान में बच्चा अपने परिवार और दोस्तों से

[1] सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र/सामाजिकविज्ञान विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.).
ई-मेल.- saumyashanker@dsmnru.ac.in; saumya_shanker@yahoo.com

[2] शोधार्थी, समाजशास्त्र/सामाजिकविज्ञान विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.).
ई-मेल.- sapnac879@gmail.com

अधिक समय मोबाइल और अन्य तकनीकी उपकरणों पर व्यतीत करता है। इंटरनेट पर अधिक समय बिताने का असर उसके व्यवहार, मानसिकता और जीवनशैली पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति में 'संस्कार' का अत्यधिक महत्व है। ये संस्कार व्यक्ति को सही और गलत की पहचान करने में मदद करते हैं और उसे एक अच्छा नागरिक बनने में सहायता प्रदान करते हैं। बच्चों के विकास में अच्छे संस्कार स्थापित करने की जिम्मेदारी परिवार और समाज दोनों पर होती है। परिवार, विद्यालय और समाज मिलकर बच्चों के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को आदर, अनुशासन, ईमानदारी और सहयोग जैसे महत्वपूर्ण गुण सिखाते हैं। वहीं, विद्यालय शिक्षा के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का पाठ भी पढ़ाता है। हालाँकि, आज के डिजिटल युग में सोशल मीडिया का बच्चों के जीवन पर इतना गहरा असर पड़ चुका है कि कभी-कभी यह परिवार और विद्यालय से भी अधिक प्रभावशाली बन जाता है। सोशल मीडिया का बच्चों के व्यवहार और आदतों पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है। जो सामग्री बच्चे इंटरनेट पर देखते हैं, वे उसे तेजी से सीखकर अपनाने लगते हैं। इसका असर उनकी भाषा, फैशन, भोजन और सोचने के तरीके में स्पष्ट रूप से महसूस किया जा सकता है। आजकल के कई बच्चे भारतीय संस्कृति और पारिवारिक परंपराओं से दूर होकर सोशल मीडिया पर प्रदर्शित विचारों और ट्रेंड्स पर ध्यान देने लगे हैं। आधुनिक जीवनशैली के प्रति बढ़ते आकर्षण के परिणामस्वरूप, कुछ नकारात्मक प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं। इनमें दिखावा, गुस्सा, आत्मकेंद्रितता और एक-दूसरे से तुलना करने की आदत शामिल है। आजकल के कई बच्चे अपना अधिकतर समय मोबाइल फोन पर बिताते हैं, जिससे वे खेल-कूद, अध्ययन और अपने परिवार के साथ बिताने वाले महत्वपूर्ण समय से वंचित होते जा रहे हैं। विभिन्न अध्ययन दर्शाते हैं कि सोशल मीडिया का बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। लंबे समय तक मोबाइल डिवाइस और सोशल मीडिया का उपयोग करने से बच्चों में तनाव, चिंता, अकेलापन और चिड़चिड़ापन की समस्याएं बढ़ सकती हैं। अक्सर, जब बच्चे सोशल मीडिया पर दूसरों की glamorous जिंदगी देखते हैं, तो वे खुद को असुरक्षित महसूस करने लगते हैं। परिणामस्वरूप, उनके आत्म-सम्मान में कमी आ सकती है। इसके अतिरिक्त साइबर बुलिंग, गलत जानकारी और अश्लील सामग्री जैसी चुनौतियाँ भी बच्चों पर असर डालती हैं। सोशल मीडिया के अत्यधिक प्रयोग से न केवल बच्चों की पढ़ाई प्रभावित होती है, बल्कि उनकी एकाग्रता में भी कमी आती है। हालांकि, सोशल मीडिया के कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं। यह बच्चों को नई जानकारी प्राप्त करने, ऑनलाइन शिक्षा के अवसरों का लाभ उठाने और दुनिया के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराने में मदद करता है। इससे वे नई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और अपनी क्षमताओं को निखार सकते हैं। हालांकि, अगर इसका प्रयोग सावधानी से और सही दिशा में नहीं किया गया, तो यह बच्चों के नैतिक मूल्यों और व्यक्तित्व पर नकारात्मक असर डाल सकता है। इसीलिए यह महत्वपूर्ण है कि माता-पिता और शिक्षक बच्चों के सोशल मीडिया के उपयोग पर नजर रखें। बच्चों को मोबाइल और इंटरनेट का उचित उपयोग सिखाना आवश्यक है, साथ ही उनमें अच्छे संस्कार, नैतिक मूल्यों और सामाजिक दायित्व की भावना भी विकसित करनी चाहिए। यदि बच्चों को सही दिशा-निर्देश मिलते हैं, तो वे तकनीक का लाभ अपने विकास और समाज की भलाई के लिए उठा सकते हैं। इसी वजह से सोशल मीडिया का बच्चों पर प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण है। भाव, आधुनिक युग में, एक महत्वपूर्ण और गंभीर मुद्दा बन गया है।

शोध के उद्देश्य-

1. कोविड-19 के बाद बच्चों में सोशल मीडिया उपयोग की स्थिति का अध्ययन करना।
2. सोशल मीडिया के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों का विश्लेषण करना।

साहित्य समीक्षा-

शर्मा (2020) के अध्ययन में यह प्रकट हुआ कि सोशल मीडिया का बच्चों के जीवन पर तेजी से प्रभाव पड़ रहा है। उनके शोध के अनुसार, Instagram और YouTube जैसे प्लेटफॉर्म बच्चों को मनोरंजन और जानकारी प्रदान करते हैं, लेकिन इनका अत्यधिक उपयोग उनके अध्ययन पर विपरीत असर डाल सकता है। इसके अतिरिक्त, अध्ययन में यह भी उजागर हुआ कि जो बच्चे इन प्लेटफॉर्मों का अधिक उपयोग करते हैं, उनकी पढ़ाई में गिरावट देखने को मिलती है।प्रतिदिन 4 से 5 घंटे सोशल मीडिया का उपयोग करने पर, लोगों की ध्यान केंद्रित करने की क्षमता कम हो जाती है।

गुप्ता (2021) ने अपने शोध "Fear of Missing Out and Mental Health" में बताया है कि सोशल मीडिया का अत्यधिक उपयोग बच्चों और किशोरों के मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालता है। इस अध्ययन में यह स्पष्ट हुआ कि बच्चे सोशल मीडिया पर निरंतर सक्रिय रहकर दूसरों की गतिविधियों के साथ अपनी तुलना करने लगते हैं।बच्चों में आत्मविश्वास की कमी, चिंता, तनाव और अकेलेपन का अनुभव अक्सर सोशल मीडिया के अत्यधिक उपयोग के कारण होता है। "Fear of Missing Out (FOMO)" या गतिविधियों या सूचनाओं से पीछे रह जाने का भय उन्हें लंबे समय तक सोशल मीडिया पर बने रहने के लिए प्रेरित करता है, जिससे उनकी पढ़ाई, नींद और मानसिक संतुलन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

UNICEF की 2022 की रिपोर्ट, "Children in a Digital World," के मुताबिक, डिजिटल मीडिया आज के बच्चों के जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इस रिपोर्ट में यह दर्शाया गया है कि इंटरनेट और सोशल मीडिया बच्चों को शिक्षा, जानकारी, संवाद और वैश्विक अवसरों तक पहुँचाने में मदद करते हैं। बच्चे ऑनलाइन...इन प्लेटफार्मों का उपयोग करके लोग नई चीजें सीखने और अपनी रचनात्मकता को बढ़ाने का अवसर पा सकते हैं। हालांकि, रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि सोशल मीडिया और इंटरनेट के अधिक इस्तेमाल से साइबर बुलिंग, ऑनलाइन शोषण, मानसिक तनाव, और गोपनीयता से जुड़ी समस्याएं बढ़ रही हैं। कई बच्चे ऑनलाइन आपत्तिजनक टिप्पणियों और गलत सामग्री का सामना कर रहे हैं। री के संपर्क में आते हैं, जो उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर डाल सकता है। रिपोर्ट में अभिभावकों और शिक्षकों की भूमिका को बेहद महत्वपूर्ण बताया गया है। UNICEF के अनुसार, बच्चों को सुरक्षित इंटरनेट उपयोग, डिजिटल साक्षरता और साइबर सुरक्षा के बारे में जागरूक करना आवश्यक है, ताकि वे सोशल मीडिया के संभावित खतरों से बच सकें।मीडिया का सुरक्षित और संतुलित उपयोग करना संभव है।

Livingstone और Helsper (2008) ने अपने अध्ययन "Parental Mediation of Children's Internet Use" में बच्चों के इंटरनेट और सोशल मीडिया प्रयोग में अभिभावकों की भूमिका का गहन विश्लेषण किया। इस अध्ययन में स्पष्ट किया गया कि इंटरनेट और सोशल मीडिया बच्चों के लिए

शिक्षा, जानकारी और मनोरंजन के कई अवसर प्रदान करते हैं। हालांकि इनका उपयोग लाभकारी हो सकता है, परंतु इनका अत्यधिक सेवन कई नकारात्मक प्रभाव भी ला सकता है।

NCERT सर्वे रिपोर्ट (2021) में बताया गया है कि कोविड-19 महामारी के कारण बच्चों के बीच मोबाइल और सोशल मीडिया का उपयोग काफी बढ़ गया। अनेक छात्रों ने ऑनलाइन शिक्षा प्राप्त करने के लिए सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का सहारा लिया। रिपोर्ट में यह दृश्यता आती है कि...यह बताया गया है कि लंबे समय तक स्क्रीन के सामने रहने से बच्चों की आँखों और मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।

Anderson (2021) द्वारा किए गए अध्ययन में यह पाया गया कि सोशल मीडिया बच्चों को वैश्विक जानकारी और नई तकनीकों से जोड़ता है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि बच्चों के लिए डिजिटल अनुशासन अत्यंत आवश्यक है।अभिभावकों की निगरानी और समय सीमा तय करना बच्चों के सुरक्षित इंटरनेट उपयोग के लिए महत्वपूर्ण है।

भारतीय शिक्षा आयोग रिपोर्ट भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया कि सोशल मीडिया का शिक्षा पर मिश्रित प्रभाव पड़ता है जहाँ ऑनलाइन अध्ययन सामग्री और वीडियो बच्चों के लिए उपयोगी हैं, वहीं मनोरंजन संबंधी सामग्री पढ़ाई में बाधा उत्पन्न करती है

विषय का समाजशास्त्रीय महत्व-

शोध कार्य के लिए समस्या का चयन अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी भी कार्य को करने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। वर्तमान समय में सोशल मीडिया सबसे अधिक प्रचलित एवं शक्तिशाली माध्यम बन चुका है। इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सोशल मीडिया के विकास के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हो रहे हैं। विशेष रूप से विद्यार्थियों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ रहा है। यह प्रभाव सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार का है। वर्तमान समय में सोशल मीडिया के साधन लगभग प्रत्येक घर में उपलब्ध हैं, जिसके कारण इसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि—पर दिखाई देता है। माध्यम से हमें नई जानकारियाँ एवं ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरी ओर नई परंपराएँ (सांस्कृतिक एवं सामाजिक) तथा अनेक नई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं, साथ ही सामाजिक मूल्यों में गिरावट भी देखने को मिलती है। सोशल मीडिया के लाभों के संदर्भ में भी चर्चा की जा सकती है। सोशल मीडिया के माध्यम से विद्यार्थी अपने ज्ञान में वृद्धि कर रहे हैं, परंतु साथ ही कुछ विद्यार्थी विभिन्न आपराधिक गतिविधियों में भी संलग्न होते जा रहे हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों पर सोशल मीडिया के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ रहे हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन सोशल मीडिया के सभी प्रभावों का परीक्षण करने पर केंद्रित है। इसके माध्यम से यह समझा जा सकता है कि ये प्रभाव सकारात्मक हैं या नकारात्मक। इन पहलुओं को समझकर ही सोशल मीडिया के उपयोग की सीमाएँ एवं उचित प्रयोग निर्धारित किए जा सकते हैं। इससे विद्यार्थियों के व्यक्तित्व एवं सामाजिक समायोजन के विकास में सहायता मिलेगी। इसके साथ ही शिक्षक भी सोशल मीडिया के उचित उपयोग द्वारा अपने विद्यार्थियों के साथ

प्रभावी संवाद स्थापित कर सकेंगे। प्रस्तुत शोध के माध्यम से माता-पिता भी अपने बच्चों की देखरेख कर सकेंगे तथा उन्हें सही दिशा में मार्गदर्शन प्रदान कर पाएँगे। इस प्रकार माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के सामाजिक समायोजन पर सोशल मीडिया के प्रभाव से संबंधित समस्या का चयन विद्यार्थियों, शिक्षकों तथा अभिभावकों के लिए सोशल मीडिया के लाभ एवं प्रभावों के संदर्भ में एक उचित एवं सार्थक कदम माना जा सकता है।

शोध पद्धति-

यह शोध वर्णनात्मक पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक आंकड़े विद्यालयों में विद्यार्थियों से प्रत्यक्ष रूप से एकत्रित किए गए।

शोध अभिकल्प- यह अध्ययन वर्णनात्मक शोध पद्धति पर आधारित है।
जनसंख्या- दिल्ली एनसीआर क्षेत्र के 5 वर्ष से 18 साल की आयु के विद्यार्थी।
नमूना एवं नमूना चयन तकनीक- 25 विद्यार्थियों का चयन यादृच्छिक नमूना तकनीक द्वारा किया गया।
उपकरण- प्रश्नावली एवं साक्षात्कार अनुसूची।
आंकड़ा संग्रह प्रक्रिया- प्राथमिक आंकड़े विद्यालयों में विद्यार्थियों से प्रत्यक्ष रूप से एकत्रित किए गए।
सांख्यिकीय तकनीक- प्रतिशत, ग्राफ विश्लेण का उपयोग किया गया।

विश्लेषण एवं व्याख्या-

उपयोग किए जाने वाले गैजेट्स-

चार्ट 1: विद्यार्थियों द्वारा उपयोग किए जाने वाले गैजेट्स

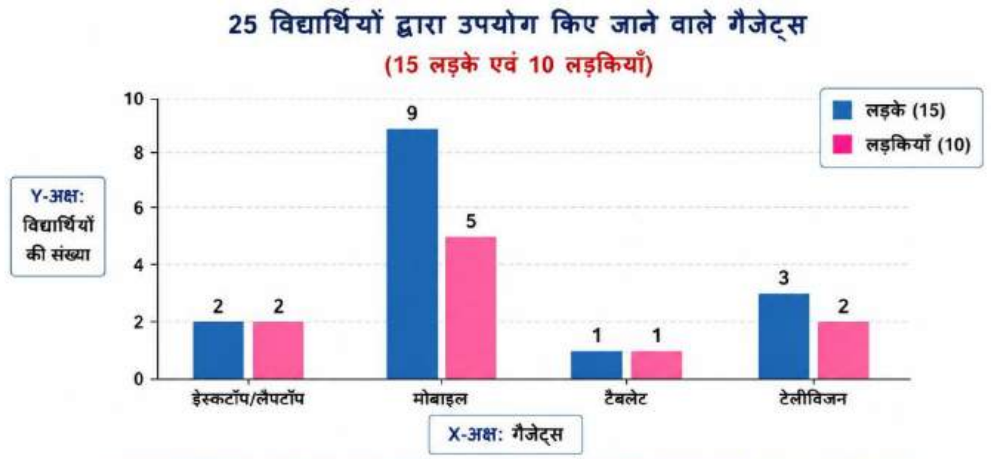

गैजेट्स	लड़के	लड़कियाँ	कुल विद्यार्थी
डेस्कटॉप/लैपटॉप	2	2	4
मोबाइल	9	5	14
टैबलेट	1	1	2
टेलीविजन	3	2	5
कुल	15	10	25

स्रोत- *प्राथमिक आकड़ें*

यह ग्राफ 25 विद्यार्थियों के बीच विभिन्न गैजेट्स के उपयोग को दर्शाता है। इस अध्ययन में कुल 15 लड़के और 10 लड़कियों को शामिल किया गया है। ग्राफ में डेस्कटॉप/लैपटॉप, मोबाइल, टैबलेट और टेलीविजन जैसे गैजेट्स का उपयोग दिखाया गया है। ग्राफ को देखने पर पता चलता है कि विद्यार्थियों के बीच मोबाइल सबसे अधिक उपयोग किया जाने वाला गैजेट है। 15 लड़कों में से 9 लड़के मोबाइल का उपयोग करते हैं, जबकि 10 लड़कियों में से 5 लड़कियाँ मोबाइल का उपयोग करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आज के समय में पढ़ाई, मनोरंजन और संचार के लिए मोबाइल विद्यार्थियों की पहली पसंद बन चुका है।

डेस्कटॉप/लैपटॉप का उपयोग लड़कों और लड़कियों दोनों में समान रूप से देखा गया है। कुल 2 लड़के और 2 लड़कियाँ इसका उपयोग करते हैं। वहीं टैबलेट का उपयोग सबसे कम पाया गया, जिसमें केवल 1 लड़का और 1 लड़की शामिल हैं। टेलीविजन का उपयोग भी कुछ विद्यार्थियों द्वारा किया जाता है, जहाँ 3 लड़के और 2 लड़कियाँ टीवी देखते हैं। इस ग्राफ से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्यार्थियों में मोबाइल का उपयोग सबसे ज्यादा लोकप्रिय है, जबकि टैबलेट का उपयोग सबसे कम है। यह अध्ययन बच्चों की डिजिटल आदतों और गैजेट्स के प्रति उनकी रुचि को समझने में सहायक है।

विद्यार्थियों के आयु वर्ग का वितरण-

तालिका 1: 25 विद्यार्थियों के आयु-वर्ग का वितरण दर्शाया गया है

आयु वर्ग (वर्ष)	विद्यार्थियों की संख्या	प्रतिशत (%)
5 से 9 वर्ष	6	24%
9 से 14 वर्ष	11	44%
14 से 18 वर्ष	8	32%
कुल	**25**	**100%**

स्रोत- *प्राथमिक आकड़े*

उपरोक्त तालिका में 25 विद्यार्थियों के आयु-वर्ग का वितरण दर्शाया गया है। कुल 25 विद्यार्थियों को तीन आयु समूहों में विभाजित किया गया है। 5 से 9 वर्ष आयु वर्ग में 6 विद्यार्थी हैं, जो कुल विद्यार्थियों का 24% हैं। 9 से 14 वर्ष आयु वर्ग में 11 विद्यार्थी हैं, जो कुल का 44% है। यह सबसे बड़ा आयु वर्ग है। 14 से 18 वर्ष आयु वर्ग में 8 विद्यार्थी हैं, जो कुल विद्यार्थियों का 32% हैं। सभी आयु वर्गों का कुल योग 25 विद्यार्थी तथा 100% है। तालिका के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अधिकांश विद्यार्थी 9 से 14 वर्ष आयु वर्ग के हैं, जिनकी संख्या 11 (44%) है। इसके बाद 14 से 18 वर्ष आयु वर्ग के 8 (32%) विद्यार्थी हैं। सबसे कम विद्यार्थी 5 से 9 वर्ष आयु वर्ग में हैं, जिनकी संख्या 6 (24%) है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समूह में मध्यम आयु वर्ग (9 से 14 वर्ष) के विद्यार्थियों का प्रभुत्व है।

सोशल मीडिया उपयोग का समय-

बार चार्ट क्रमांक-2 में 25 विद्यार्थियों द्वारा सोशल मीडिया उपयोग में प्रतिदिन बिताए जाने वाले समय का प्रतिशत वितरण दर्शाया गया है। चार्ट के अनुसार 6 विद्यार्थी (24%) प्रतिदिन 1 घंटे से कम समय

सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। 11 विद्यार्थी (44%) प्रतिदिन 1 से 3 घंटे तक सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं, जो सबसे बड़ा समूह है। वहीं 8 विद्यार्थी (32%) प्रतिदिन 3 घंटे से अधिक समय सोशल मीडिया पर व्यतीत करते हैं। यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश विद्यार्थी प्रतिदिन 1 से 3 घंटे सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं, जबकि एक महत्वपूर्ण संख्या ऐसे विद्यार्थियों की भी है जो 3 घंटे से अधिक समय सोशल मीडिया पर बिताते हैं। सबसे कम संख्या उन विद्यार्थियों की है जो 1 घंटे से कम समय सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं।

चार्ट 2: कुल 25 विद्यार्थियों में सोशल मीडिया का उपयोग

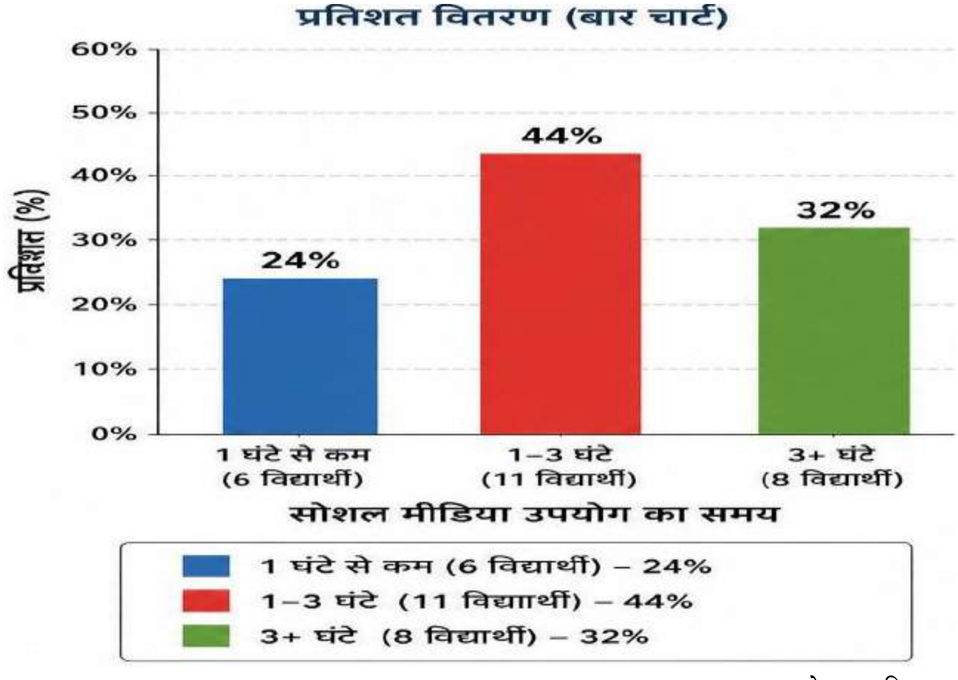

***स्रोत-** प्राथमिक आकड़ें*

बार चार्ट के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विद्यार्थी (44%) प्रतिदिन 1 से 3 घंटे सोशल मीडिया का उपयोग करते हैं। साथ ही, 32% विद्यार्थी 3 घंटे से अधिक समय सोशल मीडिया पर व्यतीत करते हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक उपयोग को दर्शाता है। केवल 24% विद्यार्थी ही सोशल मीडिया का सीमित उपयोग करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों के दैनिक जीवन में सोशल मीडिया का महत्वपूर्ण स्थान है तथा इसके संतुलित एवं जिम्मेदार उपयोग के जागरूकता बढ़ाने की आवश्यकता है।

सोशल मीडिया एवं ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के उपयोग-

चार्ट क्रमांक-3 में 5 से 18 वर्ष आयु वर्ग के 25 विद्यार्थियों द्वारा सोशल मीडिया एवं ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के उपयोग का प्रतिशत दर्शाया गया है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार व्हाट्सऐप और इंस्टाग्राम का उपयोग सबसे अधिक किया जाता है, जिनका प्रतिशत क्रमशः 28% एवं 28% है। इसके अतिरिक्त 21% विद्यार्थी ऑनलाइन गेम्स खेलना पसंद करते हैं। फेसबुक का उपयोग 12% विद्यार्थियों द्वारा किया जाता है, जबकि यूट्यूब का उपयोग 7% विद्यार्थियों द्वारा किया जाता है। सबसे कम उपयोग टिकटॉक/शॉर्ट वीडियो का

पाया गया, जिसका प्रतिशत केवल 4% है।चार्ट से स्पष्ट होता है कि विद्यार्थियों के बीच संचार और सामाजिक संपर्क से संबंधित माध्यम, जैसे व्हाट्सऐप और इंस्टाग्राम, अधिक लोकप्रिय हैं। वहीं मनोरंजन के लिए ऑनलाइन खेल, यूट्यूब तथा शॉर्ट वीडियो प्लेटफॉर्म का भी उपयोग किया जाता है, हालांकि उनकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम है।

चार्ट 3: 25 विद्यार्थियों में सोशल मीडिया एवं ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के उपयोग

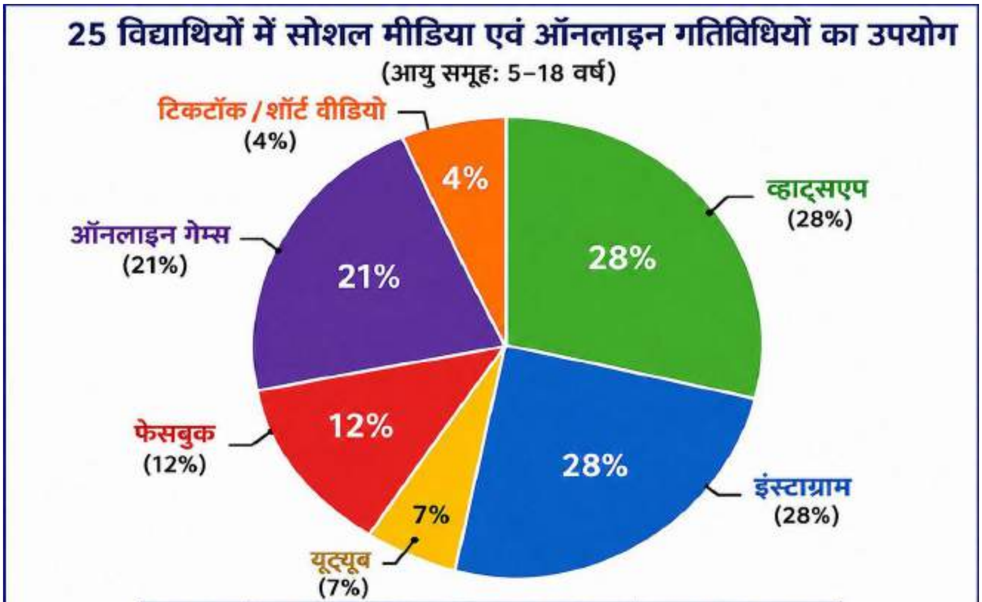

क्रम संख्या	सामाजिक मीडिया / ऑनलाइन गतिविधि	प्रतिशत (%)
1.	व्हाट्सएप	28%
2.	इंस्टाग्राम	28%
3.	यूट्यूब	7%
4.	फेसबुक	12%
5.	ऑनलाइन गेम्स	21%
6.	टिकटॉक / शॉर्ट वीडियो	4%

नोट: उपरोक्त प्रतिशत दिए गए आंकड़ों के आधार पर हैं। कुल प्रतिशत 100% है, क्योंकि कुछ विद्यार्थी एक से अधिक गतिविधियों का उपयोग करते हैं।

स्रोत- *प्राथमिक आकड़ें*

प्रस्तुत पाई चार्ट के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्यार्थियों में सोशल मीडिया का उपयोग व्यापक रूप से प्रचलित है। व्हाट्सऐप और इंस्टाग्राम सबसे अधिक उपयोग किए जाने वाले माध्यम हैं, जो विद्यार्थियों के दैनिक संचार और सामाजिक जुड़ाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त, एक उल्लेखनीय संख्या ऑनलाइन खेलों का भी उपयोग करती है, जिससे मनोरंजन के प्रति उनकी रुचि का पता चलता है। दूसरी ओर, यूट्यूब, फेसबुक तथा टिकटॉक/शॉर्ट वीडियो का उपयोग अपेक्षाकृत कम पाया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों के बीच सोशल मीडिया एवं ऑनलाइन गतिविधियाँ उनके जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी हैं, इसलिए इनके संतुलित एवं जिम्मेदार उपयोग के प्रति जागरूकता बढ़ाना आवश्यक है।

सोशल मीडिया से बच्चों की पढ़ाई पर प्रभाव-

चार्ट क्रमांक-4 में 25 अभिभावकों से पूछे गए प्रश्न "क्या सोशल मीडिया से बच्चों की पढ़ाई प्रभावित होती है?" के उत्तरों का प्रतिशत दर्शाया गया है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 18 अभिभावकों (72%) ने माना कि सोशल मीडिया बच्चों की पढ़ाई को प्रभावित करता है। 4 अभिभावकों (16%) का मत है कि सोशल मीडिया का बच्चों की पढ़ाई पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वहीं 3 अभिभावकों (12%) का मानना है कि सोशल मीडिया कुछ हद तक बच्चों की पढ़ाई को प्रभावित करता है। ग्राफ से स्पष्ट होता है कि अधिकांश अभिभावक सोशल मीडिया के प्रभाव को लेकर चिंतित हैं तथा उनका मानना है कि इसका बच्चों के शैक्षणिक प्रदर्शन पर प्रभाव पड़ सकता है। बहुत कम अभिभावक ऐसे हैं जो सोशल मीडिया को पढ़ाई के लिए हानिकारक नहीं मानते।

चार्ट 4: क्या सोशल मीडिया से बच्चों की पढ़ाई प्रभावित होती है?

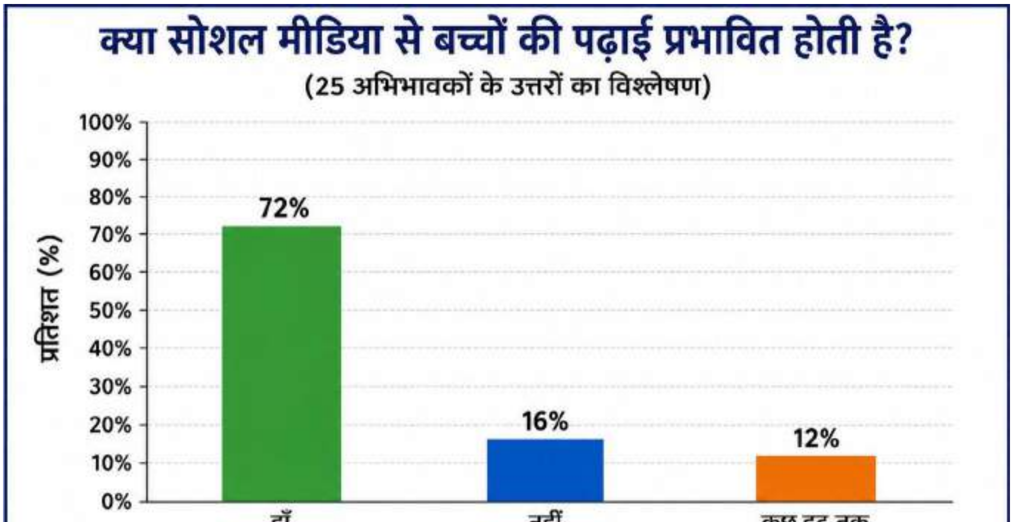

क्रम संख्या	उत्तर के विकल्प	अभिभावकों की संख्या	प्रतिशत (%)
1.	हाँ	18	72%
2.	नहीं	4	16%
3.	कुछ हद तक	3	12%

नोट: कुल अभिभावक = 25 | कुल प्रतिशत = 100%

स्रोत- *प्राथमिक आकड़ें*

अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश अभिभावक (72%) मानते हैं कि सोशल मीडिया बच्चों की पढ़ाई को प्रभावित करता है। केवल 16% अभिभावकों ने इस प्रभाव से असहमति व्यक्त की, जबकि 12% अभिभावकों का मत है कि इसका प्रभाव सीमित या आंशिक रूप से पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि अभिभावकों की दृष्टि में सोशल मीडिया का बच्चों की शिक्षा पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। इसलिए बच्चों को सोशल मीडिया का संतुलित एवं समयबद्ध उपयोग करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए, ताकि उनकी पढ़ाई और शैक्षणिक उपलब्धियों पर नकारात्मक प्रभाव न पड़े।

सोशल मीडिया द्वारा नई चीजें सीखना-

चार्ट क्रमांक-5 में 5–18 वर्ष आयु वर्ग के 25 विद्यार्थियों से यह प्रश्न पूछा गया कि "क्या सोशल मीडिया का उपयोग करते समय बच्चों को नई चीज़ें सीखने को मिलती हैं?"। अधिकांश विद्यार्थियों का मानना है कि सोशल मीडिया केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह सीखने और ज्ञान प्राप्त करने का भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। 17 विद्यार्थियों (68%) ने "हाँ" उत्तर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि अधिकांश बच्चे सोशल मीडिया के माध्यम से नई जानकारियाँ, शैक्षिक सामग्री, सामान्य ज्ञान, तकनीकी जानकारी तथा विभिन्न कौशल सीखते हैं। वहीं 5 विद्यार्थियों (20%) ने "कभी-कभी" उत्तर दिया। इन विद्यार्थियों के अनुसार सोशल मीडिया पर उपलब्ध सामग्री की प्रकृति के आधार पर सीखने के अवसर मिलते हैं। अर्थात् यदि सामग्री उपयोगी और ज्ञानवर्धक हो, तो सीखने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त 3 विद्यार्थियों (12%) ने "नहीं" उत्तर दिया। इन विद्यार्थियों का मानना है कि सोशल मीडिया उनके लिए सीखने का माध्यम नहीं है या वे इसका उपयोग मुख्य रूप से मनोरंजन के लिए करते हैं।

चार्ट 5: क्या सोशल मीडिया का उपयोग करते समय बच्चों को नई चीज़ें सीखने को मिलती हैं?

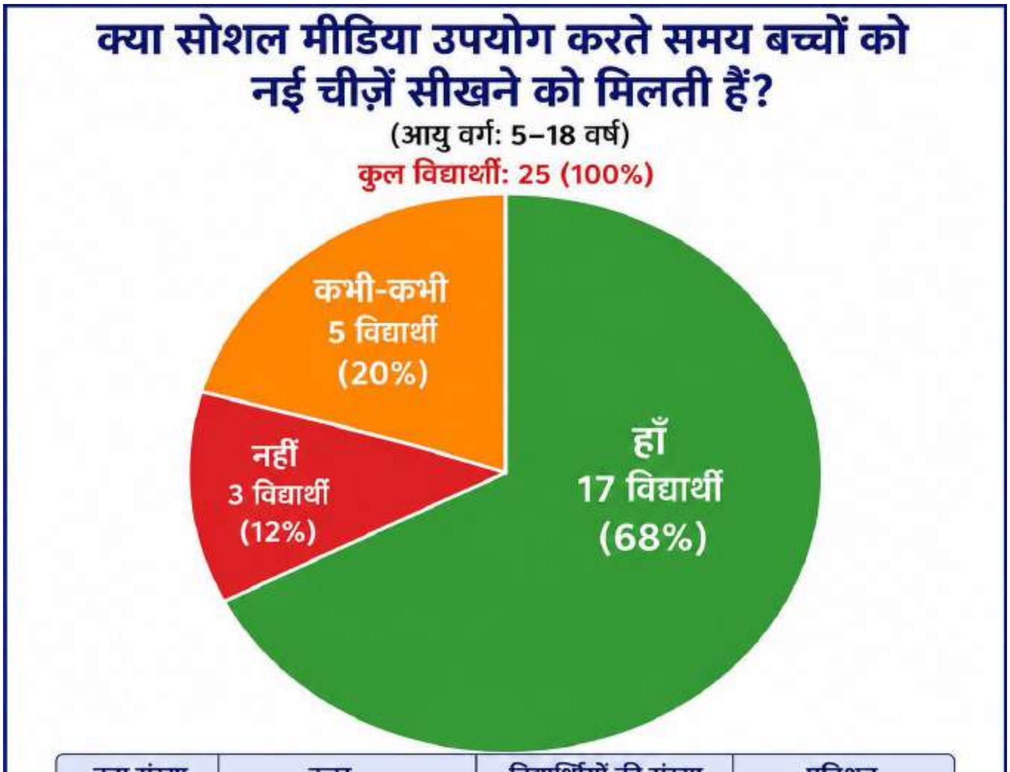

क्रम संख्या	उत्तर	विद्यार्थियों की संख्या	प्रतिशत
1.	हाँ	17	68%
2.	नहीं	3	12%
3.	कभी-कभी	5	20%
कुल		25	100%

स्रोत- *प्राथमिक आकड़ें*

सर्वेक्षण के परिणामों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिकांश विद्यार्थी (68%) सोशल मीडिया को नई चीज़ें सीखने का प्रभावी माध्यम मानते हैं। यह दर्शाता है कि सोशल मीडिया बच्चों के ज्ञान, जागरूकता और कौशल विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। हालांकि, कुछ विद्यार्थियों ने "कभी-कभी" और "नहीं" जैसे उत्तर दिए हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया का शैक्षिक प्रभाव उसकी सामग्री और उपयोग के तरीके पर निर्भर करता है। इसलिए बच्चों को सोशल मीडिया का संतुलित, सुरक्षित और शैक्षिक उद्देश्यों के लिए उपयोग करने के लिए मार्गदर्शन देना आवश्यक है, ताकि वे इससे अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकें।

सोशल मीडिया के उपयोग का बच्चों के व्यवहार और संस्कारों पर प्रभाव-

चार्ट 6: सोशल मीडिया के उपयोग का बच्चों के व्यवहार और संस्कारों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

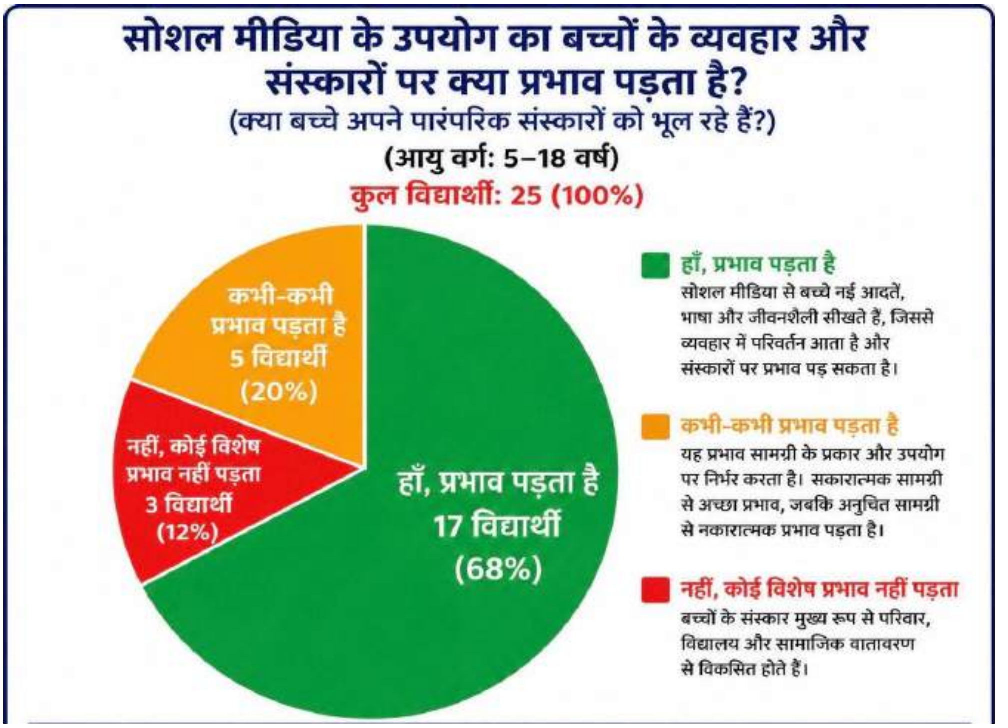

स्रोत- *प्राथमिक आकड़ें*

चार्ट क्रमांक-6 के अनुसार 17 विद्यार्थियों (68%) का मानना है कि सोशल मीडिया बच्चों के व्यवहार को प्रभावित करता है। उनका कहना है कि बच्चे सोशल मीडिया से नई आदतें, भाषा और जीवनशैली सीखते हैं, जिसके कारण उनके व्यवहार में परिवर्तन देखने को मिलता है। कई बार बच्चे परिवार के साथ समय बिताने की अपेक्षा मोबाइल और इंटरनेट पर अधिक समय व्यतीत करने लगते हैं, जिससे पारिवारिक मूल्यों और संस्कारों पर प्रभाव पड़ सकता है। 5 विद्यार्थियों (20%) ने कहा कि यह प्रभाव कभी-कभी पड़ता है। उनके अनुसार सोशल मीडिया का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि बच्चे किस प्रकार की सामग्री देखते हैं और उनका उपयोग कितना नियंत्रित है। यदि बच्चे शैक्षिक और सकारात्मक सामग्री देखते हैं, तो व्यवहार पर

सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है, जबकि अनुचित सामग्री नकारात्मक प्रभाव डाल सकती है। वहीं 3 विद्यार्थियों (12%) का मानना है कि सोशल मीडिया का बच्चों के व्यवहार या संस्कारों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उनका विश्वास है कि बच्चों के संस्कार मुख्य रूप से परिवार, विद्यालय और सामाजिक वातावरण से विकसित होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश विद्यार्थियों का मानना है कि सोशल मीडिया बच्चों के व्यवहार और मूल्यों को प्रभावित कर रहा है। यद्यपि यह कहना उचित नहीं होगा कि सभी बच्चे अपने संस्कार भूल रहे हैं, लेकिन अत्यधिक और अनियंत्रित सोशल मीडिया उपयोग के कारण पारिवारिक संवाद, अनुशासन और सांस्कृतिक मूल्यों में कमी आने की संभावना बढ़ सकती है। इसलिए आवश्यक है कि माता-पिता और शिक्षक बच्चों के सोशल मीडिया उपयोग पर उचित मार्गदर्शन और निगरानी रखें, ताकि वे आधुनिक तकनीक का लाभ उठाते हुए अपने नैतिक मूल्यों और संस्कारों को भी बनाए रख सकें।

सोशल मीडिया के उपयोग का बच्चों के स्वास्थ्य पर प्रभाव-

सोशल मीडिया के उपयोग का बच्चों के स्वास्थ्य पर प्रभाव को दर्शाता है। वर्तमान समय में बच्चे शिक्षा, मनोरंजन तथा संचार के लिए सोशल मीडिया और डिजिटल उपकरणों का व्यापक रूप से उपयोग कर रहे हैं। यह तकनीक जानकारी और सीखने के अवसर प्रदान करती है, लेकिन इसके अत्यधिक उपयोग से बच्चों के स्वास्थ्य पर कई नकारात्मक प्रभाव भी देखने को मिलते हैं। के अनुसार सबसे प्रमुख प्रभाव नींद की कमी है। देर रात तक मोबाइल और सोशल मीडिया का उपयोग करने से बच्चों की नींद का समय कम हो जाता है, जिससे थकान, चिड़चिड़ापन तथा पढ़ाई में एकाग्रता की कमी जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। स्क्रीन से निकलने वाली नीली रोशनी शरीर में मेलाटोनिन हार्मोन के निर्माण को प्रभावित करती है, जिसके कारण नींद की गुणवत्ता खराब हो सकती है और बच्चों को पर्याप्त आराम नहीं मिल पाता। चार्ट में मायोपिया (निकट दृष्टिदोष) को भी एक महत्वपूर्ण समस्या बताया गया है। लंबे समय तक स्क्रीन देखने से आँखों पर दबाव बढ़ता है, जिससे दूर की वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं और चश्मे की आवश्यकता पड़ सकती है। इसके अतिरिक्त, मोटापा भी एक प्रमुख स्वास्थ्य समस्या के रूप में सामने आता है। सोशल मीडिया के अत्यधिक उपयोग से बच्चों की शारीरिक गतिविधियाँ कम हो जाती हैं तथा वे अधिक समय बैठे रहते हैं। इससे वजन बढ़ने और अस्वास्थ्यकर जीवनशैली विकसित होने की संभावना बढ़ जाती है। अंत में, मस्तिष्क और मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव भी महत्वपूर्ण है। अत्यधिक स्क्रीन समय बच्चों की स्मरण शक्ति, ध्यान क्षमता और एकाग्रता को प्रभावित कर सकता है। साथ ही तनाव, चिंता और व्यवहार संबंधी समस्याएँ भी बढ़ सकती हैं। उपरोक्त जानकारी से स्पष्ट होता है कि सोशल मीडिया का अत्यधिक और अनियंत्रित उपयोग बच्चों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। नींद की कमी, दृष्टि संबंधी समस्याएँ, मोटापा तथा मानसिक तनाव जैसी चुनौतियाँ बच्चों के समग्र विकास में बाधा बन सकती हैं। इसलिए आवश्यक है कि माता-पिता, शिक्षक और अभिभावक बच्चों के स्क्रीन समय पर उचित नियंत्रण रखें तथा उन्हें संतुलित डिजिटल उपयोग के लिए प्रेरित करें। यदि सोशल मीडिया का उपयोग सीमित, सुरक्षित और उद्देश्यपूर्ण तरीके से किया जाए, तो इसके लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं और स्वास्थ्य संबंधी जोखिमों को कम किया जा सकता है।

सोशल मीडिया के सकारात्मक प्रभाव-

सोशल मीडिया आज बच्चों के जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है। इसका सही और सीमित उपयोग बच्चों के विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है। सोशल मीडिया के माध्यम से बच्चों को नई-नई जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। वे देश-दुनिया की घटनाओं, विज्ञान, तकनीक और शिक्षा से जुड़ी अनेक बातों को आसानी से समझ पाते हैं। ऑनलाइन शिक्षा के क्षेत्र में भी सोशल मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। यूट्यूब, गूगल क्लासरूम और अन्य शैक्षणिक प्लेटफॉर्म बच्चों को घर बैठे सीखने का अवसर प्रदान करते हैं। कोविड-19 महामारी के दौरान सोशल मीडिया और डिजिटल माध्यमों ने शिक्षा को जारी रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।इसके अतिरिक्त, सोशल मीडिया बच्चों की रचनात्मकता को बढ़ाने में भी मदद करता है। बच्चे अपनी कला, संगीत, लेखन, चित्रकारी और अन्य प्रतिभाओं को सोशल मीडिया के माध्यम से लोगों तक पहुँचा सकते हैं। इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है और वे नई चीजें सीखने के लिए प्रेरित होते हैं। सोशल मीडिया वैश्विक जानकारी और संचार का भी एक प्रभावशाली माध्यम है। इसके जरिए बच्चे विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और देशों के बारे में जान पाते हैं। साथ ही उनका तकनीकी ज्ञान भी बढ़ता है, जिससे वे आधुनिक डिजिटल दुनिया के साथ कदम मिलाकर चल पाते हैं।

सोशल मीडिया के नकारात्मक प्रभाव-

सोशल मीडिया के कई लाभ के साथ हीं इसके अत्यधिक उपयोग से बच्चों पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ रहे हैं। सबसे बड़ा प्रभाव बच्चों की पढ़ाई पर दिखाई देता है। अधिक समय तक उपयोग से उनकी एकाग्रता कम हो जाती है तथा पढ़ाई में रुचि घटने लगती है। सोशल मीडिया के कारण बच्चों में मानसिक तनाव, चिंता और अकेलेपन जैसी समस्याएँ भी बढ़ रही हैं। बच्चे अक्सर सोशल मीडिया पर दूसरों की जीवनशैली देखकर स्वयं की तुलना करने लगते हैं, जिससे उनमें आत्मविश्वास की कमी आ सकती है। साइबर बुलिंग आज एक गंभीर समस्या बन चुकी है। कई बच्चे ऑनलाइन मजाक, धमकी और गलत टिप्पणियों का शिकार होते हैं, जिसका उनके मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, बच्चे अपने परिवार और दोस्तों से दूर होते जा रहे हैं। वे अधिक समय मोबाइल फोन पर बिताते हैं, जिससे पारिवारिक संबंध कमजोर होने लगते हैं। शारीरिक गतिविधियों में कमी आने से स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ भी बढ़ रही हैं। लंबे समय तक मोबाइल का उपयोग करने से नींद की समस्या, आँखों में दर्द और थकान जैसी परेशानियाँ देखने को मिलती हैं।

सुझाव-

1. बच्चों के जीवन में सोशल मीडिया का संतुलित उपयोग बहुत आवश्यक है। सबसे पहले बच्चों के स्क्रीन टाइम को सीमित किया जाना चाहिए ताकि वे पढ़ाई, खेलकूद और अन्य गतिविधियों के लिए भी समय निकाल सकें।
2. अभिभावकों को बच्चों की ऑनलाइन गतिविधियों पर ध्यान देना चाहिए और उन्हें सुरक्षित इंटरनेट उपयोग के बारे में समझाना चाहिए। बच्चों के साथ खुलकर बातचीत करना भी आवश्यक है ताकि वे अपनी समस्याएँ आसानी से साझा कर सकें।
3. विद्यालयों में डिजिटल साक्षरता और साइबर सुरक्षा से संबंधित कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। इससे बच्चों को सोशल मीडिया के सही और गलत उपयोग के बारे में जानकारी मिलेगी।
4. बच्चों में नैतिक मूल्य, अनुशासन और सामाजिक जिम्मेदारी की भावना विकसित करना भी आवश्यक है। यदि सोशल मीडिया का उपयोग शिक्षा, ज्ञान और रचनात्मक कार्यों के लिए किया जाए, तो यह बच्चों के विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है।

निष्कर्ष-

आधुनिक समाज में सोशल मीडिया बच्चों के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। यह उनको शिक्षा, जानकारी और मनोरंजन के अनेक अवसर प्रदान करता है। इससे बच्चे नई तकनीकों और वैश्विक दुनिया से जुड़ रहे हैं। हालाँकि, सोशल मीडिया का अत्यधिक उपयोग बच्चों के मानसिक, सामाजिक और शैक्षिक विकास पर नकारात्मक प्रभाव भी डाल सकता है। पढ़ाई में एकाग्रता की कमी, मानसिक तनाव, साइबर बुलिंग और परिवार से दूरी जैसी समस्याएँ तेजी से बढ़ रही हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों को सोशल मीडिया का संतुलित और सुरक्षित उपयोग सिखाया जाए। अभिभावकों, शिक्षकों और समाज को मिलकर बच्चों का मार्गदर्शन करना चाहिए ताकि वे तकनीक का सही उपयोग करके व्यक्तित्व और भविष्य को बेहतर बना सकें।

संदर्भ सूची-

- शर्मा, आर. (2020). *सोशल मीडिया और बच्चों का व्यवहार*. राजकमल प्रकाशन.
- गुप्ता, एस. (2021). *बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य एवं सोशल मीडिया*. साहित्य भवन.
- सिंह, वी. (2019). डिजिटल युग में बच्चों की बदलती जीवनशैली. *भारतीय समाजशास्त्र समीक्षा, 12*(3), 45-52.
- वर्मा, पी. (2022). *सोशल मीडिया का शैक्षिक प्रभाव*. हिंदी अकादमी.
- UNICEF. (2022*). Children in a Digital World.* UNICEF Report.
- NCERT. (2021). *कोविड-19 के बाद ऑनलाइन शिक्षा एवं बच्चों पर प्रभाव*. नई दिल्ली.
- Livingstone, S. & Helsper, E. (2008). Parental Mediation of Children's Internet Use. *Journal of Broadcasting & Electronic Media.*
- Anderson, M. (2021). *Digital Discipline among Children.* Oxford University Press.
- भारतीय शिक्षा आयोग. (2020). *शिक्षा और डिजिटल मीडिया रिपोर्ट*. नई दिल्ली.
- मिश्रा, के. (2018). सोशल मीडिया और नैतिक मूल्य. *समाज एवं संस्कृति पत्रिका, 8*(2), 67-74.
- चौधरी, एल. (2021). *किशोरों में इंटरनेट की लत*. शिक्षा प्रकाशन.
- यादव, एम. (2020). मोबाइल उपयोग और विद्यार्थियों की एकाग्रता. *शैक्षिक अनुसंधान पत्रिका, 15*(1), 33-40.
- तिवारी, आर. (2019). *डिजिटल संस्कृति और युवा पीढ़ी*. ज्ञानदीप प्रकाशन.
- जोशी, ए. (2022). साइबर बुलिंग और बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य. *मनोविज्ञान अध्ययन, 10*(4), 55-63.
- कुमार, डी. (2021). *सोशल मीडिया: लाभ और हानि*. विद्यार्थी प्रकाशन.
- सक्सेना, पी. (2020). ऑनलाइन गेम्स और बच्चों का व्यवहार. *भारतीय शिक्षा जर्नल, 9*(3), 28-35.
- राय, एस. (2019). *बच्चों में डिजिटल साक्षरता का महत्व*. लोकभारती प्रकाशन.
- WHO. (2021). *Adolescent Mental Health and Digital Media.* WHO Report.
- अग्रवाल, एन. (2022). सोशल मीडिया और पारिवारिक संबंध. *समाजशास्त्रीय अध्ययन, 14*(2), 80-89.
- पांडेय, जी. (2021). *इंटरनेट और बाल विकास*. हिंदी ग्रंथ अकादमी.

Manuscript Timeline
Submitted : *March 10, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका एवं मुनि की रेती (टिहरी गढ़वाल) नगर पालिका का तुलनात्मक अध्ययन : 74वां संविधान संशोधन अधिनियम के संदर्भ में

मनीष राणा[1]
डॉ. जे.पी. त्यागी[2]

सारांश

74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 भारतीय नगरीय स्वशासन को संवैधानिक आधार प्रदान करने तथा लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को सुदृढ़ करने की दिशा में एक ऐतिहासिक पहल है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इस संशोधन के ऐतिहासिक विकास, संवैधानिक प्रावधानों तथा नगरीय शासन पर इसके प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उत्तराखंड राज्य की उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका तथा मुनि की रेती नगर पालिका के तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से स्थानीय प्रशासन की कार्यप्रणाली, सेवा वितरण, वित्तीय प्रबंधन, पर्यावरण संरक्षण, नागरिक सहभागिता तथा विकासात्मक प्राथमिकताओं का मूल्यांकन करना है। वर्णनात्मक एवं तुलनात्मक शोध पद्धति के आधार पर किए गए इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 74वें संविधान संशोधन ने नगर निकायों को संवैधानिक वैधता, नियमित निर्वाचन, सामाजिक प्रतिनिधित्व तथा विकेंद्रीकृत प्रशासन की दिशा में सुदृढ़ आधार प्रदान किया है। तथापि, वित्तीय संसाधनों की कमी, आधारभूत अवसंरचना की अपर्याप्तता, प्रशासनिक सीमाएँ, पर्यावरणीय चुनौतियाँ तथा जनसहभागिता का सीमित स्तर अभी भी प्रभावी नगरीय शासन के समक्ष प्रमुख बाधाएँ हैं। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि स्थानीय निकायों की वित्तीय स्वायत्तता, संस्थागत क्षमता, सतत् शहरी नियोजन तथा सहभागी शासन व्यवस्था को सुदृढ़ किए बिना 74वें संविधान संशोधन के उद्देश्यों की पूर्ण प्राप्ति संभव नहीं है।

प्रमुख शब्द: *74वाँ संविधान संशोधन, नगरीय स्वशासन, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, नगर पालिका, स्थानीय शासन, उत्तरकाशी बाड़ाहाट, मुनि की रेती।*

परिचय-

भारतीय संविधान, जो कि देश का सर्वोच्च विधिक दस्तावेज़ है, भारत को एक लोकतांत्रिक, समाजवादी, और धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में परिभाषित करता है। यह संविधान राज्य के संचालन के लिए विभिन्न संस्थाओं, नागरिकों के अधिकारों, और कर्तव्यों का उल्लेख करता है। स्थानीय शासन को सशक्त

[1] शोधार्थी, राजनीतिक विज्ञान विभाग, पी.एन.जी. राजकीय पी.जी. कॉलेज (कुमाऊँ विश्वविद्यालय), रामनगर, नैनीताल, उत्तराखंड.

[2] असिस्टेंट प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष), राजनीतिक विज्ञान विभाग, पी.एन.जी. राजकीय पी.जी. कॉलेज (कुमाऊँ विश्वविद्यालय), रामनगर, नैनीताल, उत्तराखंड. ई-मेल.- jjptyagi@gmail.com

बनाने के लिए संविधान में स्पष्ट प्रावधान किए गए हैं, जिनका उद्देश्य जनता को निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदार बनाना है। प्राचीन भारत में स्थानीय शासन मजबूत स्थिति में था। परतंत्र होने के बाद भारत की यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। आजादी के बाद स्वशासन को शक्ति देने के अनेक प्रयास किये गए। लेकिन असली ताकत 74वें संविधान संशोधन से प्राप्त हुई, जिसे 1992 पारित किया गया। इसके माध्यम से नगरीय संस्थाओं को शक्ति और अधिकार प्रदान किये गए। प्रस्तुत शोध पत्र में संविधान संशोधन के बाद नगरीय स्वशासन में आये बदलावों की पड़ताल की गयी है।[i]

74वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम दिसम्बर 1992 को पारित नगरीय स्वायत्त संस्थाओं को सशक्त बनाने तथा उनके नियमित चुनाव कराकर उन्हें नगरीय स्तर पर शासन-प्रशासन की शक्ति एवं अधिकार देने की पहल करने की दिशा में पारित किया गया। इस संशोधन द्वारा संविधान द्वारा संविधान भाग 9 'क' जोड़ा गया है। जिसमें कुल 18 अनुच्छेद हैं और नगरपालिकाएं स्वयं कानून बनाकर स्थानीय शासन के कार्यकलार्पा में नागरिको को जोडने एवं उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है।

भारत में स्थानीय शासन का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य-

भारत में स्थानीय शासन का इतिहास अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रहा है। प्राचीन भारत में गाँव प्रशासन की व्यवस्था स्वायत्त एवं संगठित थी, जहाँ ग्राम सभाएँ स्थानीय विवादों का निपटारा, कर संग्रह तथा जनकल्याण से संबंधित कार्य करती थीं। मौर्य तथा गुप्त काल में भी स्थानीय प्रशासन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मध्यकाल में भी ग्राम पंचायतों की परंपरा बनी रही, यद्यपि औपनिवेशिक शासन के दौरान स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था कमजोर हो गई। महात्मा गांधी ने 'ग्राम स्वराज' की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए 'स्थानीय स्वशासन' को लोकतंत्र की आधारशिला माना। उनका विश्वास था कि सशक्त ग्राम ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं।[ii]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान निर्माताओं ने स्थानीय शासन की आवश्यकता को स्वीकार किया। संविधान के नीति निदेशक तत्वों में अनुच्छेद 40 के अंतर्गत राज्य को ग्राम पंचायतों के संगठन और उन्हें स्वायत्त इकाई के रूप में विकसित करने का निर्देश दिया गया।[iii] बाद में नगरीय स्वशासन को सशक्त बनाने हेतु 74th Constitutional Amendment लागू किए गए।[iv] इन संशोधनों के माध्यम से पंचायतों और नगर निकायों को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया, जिससे स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक भागीदारी और प्रशासनिक विकेंद्रीकरण को बढ़ावा मिला।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में स्थानीय स्वशासन का विकास-

भारत में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही हैं। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थानीय संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। मध्यकालीन भारत में भी स्थानीय शासन प्रचलित था किन्तु स्थानीय स्वशासन के आधुनिक स्वरूप का विकास, शहरी तथा ग्रामीण दो प्रकारों के रूप में ब्रिटिश शासन व्यवस्था के दौरान हुआ। इस काल में स्थानीय प्रशासन को स्थापित करने का लक्ष्य

साम्राज्यीय वित्त के बोझ को हल्का करना था न कि भारत में स्थानीय संस्थाओं का विकास करना।[v] अतः ब्रिटिश सरकार ने जिला स्तर पर स्थित प्रान्तीय सरकार के विभिन्न विभागों के माध्यम से स्थानीय प्रशासन चलाने की नीति अपनाई। कलेक्टर को जिला प्रशासन का वास्तविक शासक बना दिया। अतः सच्चे अर्थों में स्वशासन जैसी कोई वास्तविक व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र होने पर लोकतंत्र को अधिक सुदृढ़ बनाने के निश्चय से स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के विकास की नवीन आशाये बंधी।[vi]

स्वतंत्र भारत का संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ जिसमें स्थानीय स्वायत्त शासन को राज्यसूची के अन्तर्गत रखा गया। संविधान के चौथे अध्याय में राज्य नीति के निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत अनुच्छेद 40 में राज्य सरकारों को निर्देशित किया गया कि वे ग्राम पंचायतों का गठन अधिक अच्छे ढंग से करें और उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में अधिक अच्छे ढंग से कार्य करने के लिए समर्थ बनाने की भावना से उन्हें आवश्यक शक्तियां प्रदान की जाएँ। स्वतंत्र भारत में एक दशक तक नगरीय शासन के क्षेत्र में महानगरों में नगर निगम तथा छोटे नगरों में नगरपरिषद् या नगरपालिकाएँ जिस रूप में ब्रिटिश विरासत में प्राप्त हुई थीं उसी रूप में निरन्तर क्रियाशील बनी रहीं। औद्योगिकरण के कारण नगरों में आवास, सफाई, पानी, बिजली, प्रदूषण, भूमि पर अतिक्रमण आदि समस्याएँ उत्पन्न हुई[vii]। अतः 1961 से नगरीय स्वायत्त संस्थाओं को भी महत्त्व दिया गया तथा तृतीय पंबवर्षीय योजना में नगरीय भूमि के मूल्य नियंत्रण, नगर विकास के लिए मास्टर प्लान, गृह निर्माण हेतु मानदण्ड निर्धारण एवं विकास कार्यक्रमों के लिए इन संस्थाओं को उत्तरदायी बनाया गया।

सन् 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रों के विकास हेतु आरम्भ किया गया तथा यह अपेक्षा की गई कि इस कार्यक्रम में जनता की ओर से सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा। सरकार द्वारा प्रायोजित सामुदायिक विकास कार्यक्रम ने ग्रामीण विकास के लिए नवीन प्रशासनिक इकाइयों की स्थापना की आवश्यकता उत्पन्न की।[viii] अतः सामुदायिक विकास खण्डों की स्थापना की गई तथा खण्ड विकारा अधिकारी को खण्ड स्तर पर विकास कार्यों की जिम्मेदारी सौंपी गई किन्तु इस व्यवस्था ने सक्रिय जनसहयोग प्राप्त करने की अपेक्षा पद की प्रशासनिक शक्तियों में वृद्धि की। अतः 1957 में केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् ने सम्पूर्ण सामुदायिक विकास योजना के परीक्षण हेतु गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। बलवंतराय मेहता समिति इस समिति ने स्पष्ट मत व्यक्त किया कि प्रतिनिधित्व करनेवाली लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण के बिना स्थानीय लोगों की रुचि एवं स्वयं द्वारा उद्यम को प्रेरित नहीं किया जा सकता।[ix] सामुदायिक विकास योजना जनसाधारण में स्वयं कार्य करने की भावना जगाने की दृष्टि से पूर्णतः असफल रही है। इस प्रकार की भावना के अभाव में सामाजिक एवं आर्थिक सुधार की परिवर्तन की प्रक्रिया निरनार नहीं रह सकेगी। समिति ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की सफलता तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण हेतु पंचायती राज संस्थाओं को प्रारम्भ करने का सुझाव दिया। आयोग ने इस अनुशंसा को 'लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का नाम दिया। पंचायती राज दर्शन के बारे में लिखा "पंचायती राज व्यवस्था में स्थानीय नेतृत्व एक कड़ी है जो सरकार व स्थानीय जनता को जोड़ता है. तथा सरकारी नीतियों की क्रियान्विति करता है। मेहता समिति के सुझाव भारत सरकार द्वारा स्वीकृत कर लिए गए। सर्वप्रथम 2 अक्टूबर 1959 को राजस्थान के नागौर

जिले में दीप प्रज्ज्वलित कर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने पंचायती राज व्यवस्था का उद्घाटन किया। इसके पश्चात् 1960 से 1964 तक की अवधि में बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, पंजाब, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, आसाम, प. बंगाल, केरल सहित अनेक राज्यों में पंचायती राज व्यवस्थाओं का गठन किया गया। बलवत्तराय मेहता समिति के सुझावों के अनुरूप थोड़ी बहुत भिन्नताओं के साथ त्रिस्तरीय पंचायतीराज व्यवस्था को अपनाया गया।"[x] इस त्रिस्तरीय संरचना का स्वरूप इस प्रकार था-

भारत में स्थानीय शासन का विकास-

1. ग्राम स्तर- ग्राम सभा तथा ग्राम पंचायत (आधार स्तर)
2. खण्ड स्तर पंचायत समिति (मध्यवर्ती स्तर)
3. जिला स्तर जिला परिषद् (शिखर स्तर)

पंचायतीराज की इस व्यवस्था की क्रियान्विति के बाद इस व्यवस्था में अनेक कमियों उभरने लगी तथा विकास के बुनियादी लक्ष्य को प्राप्त करने में पंचायतें असफल रहीं। अतः भारत सरकार ने दिसम्बर, 1977 में पंचायती राज व्यवस्था को अधिक सक्षम, कुशल व प्रभावशाली व जनोपयोगी बनाने हेतु सुझाव देने के लिए अशोक मेहता की अध्यक्षता में एक समिति को नियुक्त किया। अशोक मेहता समिति ने 1978 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के स्थान पर द्विस्तरीय प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया गया।

1. जिला परिषद,
2. मंडल पंचायत

अन्य समितियाँ-गरीबी निवारण कार्यक्रमों तथा जिला ग्रामीण अभिकरण (DRDA) तथा अन्य संगठनों, जिनका उद्देश्य निम्न स्तर तक विकास करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि पंचायतीराज व्यवस्था को विकास कार्यक्रमों से अधिकाधिक जोड़ा जाए।[xi] अतः 1983 में हनुनंतराव समिति की नियुक्ति की गई जिसने अशोक मेहता समिति के सुझावों का समर्थन किया। 1985 में जी.बी.के. राय समिति ने जिला परिषद् को अधिक सशक्त बनाने का सुझाव दिया[xii] तथा 1986 में नियुक्त एल.एम. सिंघवी समिति ने सुझाव दिया कि दो-तीन गाँवों को एक पंचायत में सम्मिलित कर पंचायतों को वित्तीय सुदृढ़ता प्रदान की जाए।[xiii]

74वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 का परिचय-

1992 में 74वें संविधान संशोधन के तहत नगर निकायों को संवैधानिक दर्जा दिया गया। इसका उद्देश्य शहरी क्षेत्रों में विकेंद्रीकरण और लोकतंत्र को मजबूत करना था। इस अधिनियम ने नगरपालिकाओं की परिभाषा, कार्य, और स्वायत्तता को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया, जिससे स्थानीय शासन की क्षमता में वृद्धि हुई। भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में नगरीय स्वशासन को संवैधानिक आधार प्रदान करने वाला एक महत्वपूर्ण अधिनियम है। यह संशोधन दिसंबर 1992 में संसद द्वारा पारित किया गया तथा 1 जून 1993 से लागू हुआ। इसके माध्यम से संविधान में **भाग IX-क (Part IX-A)** जोड़ा गया, जिसमें अनुच्छेद 243P से 243ZG

तक नगरपालिकाओं से संबंधित प्रावधानों को सम्मिलित किया गया। साथ ही **बारहवीं अनुसूची (Twelfth Schedule)** को भी संविधान में जोड़ा गया, जिसमें नगर निकायों के 18 प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया गया है।[xiv] इस संशोधन का उद्देश्य नगरीय स्थानीय निकायों को संवैधानिक दर्जा प्रदान करना, लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को मजबूत करना तथा शहरी प्रशासन में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना था।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में नगरीकरण की गति तेजी से बढ़ी, जिसके कारण नगरपालिकाओं की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई। लेकिन नगर निकाय वित्तीय निर्भरता, प्रशासनिक हस्तक्षेप तथा अनियमित चुनावों जैसी समस्याओं से ग्रसित थे। इन समस्याओं के समाधान के लिए 74वें संविधान संशोधन अधिनियम को लागू किया गया। इस अधिनियम के अंतर्गत नगरपालिकाओं को तीन श्रेणियों- नगर पंचायत, नगर परिषद् तथा नगर निगम में विभाजित किया गया। इनके नियमित चुनाव प्रत्येक पाँच वर्ष में कराना अनिवार्य किया गया तथा चुनावों के संचालन हेतु राज्य निर्वाचन आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया। इस संशोधन के माध्यम से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी की गई, जिससे स्थानीय शासन में सामाजिक न्याय और समावेशिता को बढ़ावा मिला। महिलाओं के लिए कम-से-कम एक-तिहाई सीटों का आरक्षण भारतीय लोकतंत्र में महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम माना जाता है। इसके अतिरिक्त नगरपालिकाओं को कर लगाने, विकास योजनाएँ तैयार करने तथा स्थानीय संसाधनों के प्रबंधन के अधिकार प्रदान किए गए। राज्य वित्त आयोग की स्थापना के माध्यम से नगर निकायों की वित्तीय स्थिति को मजबूत बनाने का प्रयास किया गया।[xv] बारहवीं अनुसूची में नगर नियोजन, सड़क निर्माण, जलापूर्ति, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्वच्छता, पर्यावरण संरक्षण, शहरी गरीबी उन्मूलन तथा सार्वजनिक सुविधाओं जैसे विषयों को नगरपालिकाओं के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम भारतीय शहरी प्रशासन में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण और स्थानीय स्वायत्तता की दिशा में एक मील का पत्थर सिद्ध हुआ।

विकेंद्रीकरण और नगरीय शासन में 74वें संशोधन का महत्व-

इस अधिनियम ने नगरपालिकाओं को विधायी और वित्तीय अधिकार प्रदान किए। इससे नगरपालिकाएँ अपने क्षेत्रों के सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए स्वतंत्रता प्राप्त कर सकीं। स्थानीय निकायों में नागरिकों की भागीदारी को बढ़ावा दिया गया, जिससे लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की मजबूती सुनिश्चित हुई। किसी विशेष क्षेत्र के स्थानीय प्रतिनिधियों द्वारा संचालित शासन प्रबन्ध ही स्थानीय शासन कहलाता है। लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था के महत्त्व एवं उपयोगिता को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है- लोकतन्त्र की आधारशिला स्थानीय शासन व्यवस्थाएँ लोकतन्त्र की जड़ों को गहरा बनाती है। इनके अभाव में लोकतन्त्र की सफलता सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में प्रतिनिधियात्मक लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था प्रचलित है, लेकिन इस शासन व्यवस्था के देशों में अधिकांशतः व्यक्तियों का शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है ताकि लोकतन्त्र केवल शिखर पर ही नहीं रहे यह धरातल पर लोकतन्त्र बन सकें। इस प्रकार की आवश्यकता स्थानीय शासन ही पूर्ण कर

सकता है क्योंकि इसमें स्थानीय जनता, स्थान विशेष की समस्याओं का प्रबन्ध करती है। अतः स्थानीय संस्थाओं को लोकतन्त्र की रीढ़ की हड्डी' भी कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि उच्च्च स्तर के लोकतन्त्र की सफलता प्रायः निम्न स्तर के मजबूत लोकतन्त्र पर निर्भर करती है।

लोकतन्त्र की पाठशाला ब्राइस के अनुसार लोकतन्त्र की सर्वश्रेष्ठ पाठशाला तथा इसकी सफलता की गारन्टी स्थानीय शासन है। स्थानीय शासन राजनीतिक अनुभव की विविधता को बढ़ावा देकर तथा अपने को लोकतान्त्रिक पद्धति पर आधारित सृजनात्मक क्रियाकलाप के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित करके लौकतन्त्र की नमनीयता, शक्ति तथा सम्पन्नता के विकास में योगदान देता है। अतः स्थानीय संस्थाओं के कार्यों एवं परिणामों को हर व्यक्ति सरलता से देख व जान सकता है। चूंकि हर कार्य जनता की आँखो के सामने होता है अतः महत्त्वपूर्ण स्थानीय समस्याओं के सन्दर्भ में सूक्ष्म वाद-विवाद उठ खड़ा होता है जिससे लोगों को शिक्षा मिलती है और उनमें अनुशासन का विकास होता है। नागरिकों में जागरूकता उत्पन्न होती है तथा उन्ह राजनीतिक प्रशिक्षण मिलता है। नेतृत्व का प्रशिक्षण स्थानीय संस्थाएँ केवल सामान्य जनता का ही नहीं बल्कि नेतृत्व करनेवाले वर्ग का भी प्रशिक्षण का कार्य करती हैं। उभरते हुए नेतृत्व के विकास में ये संस्थाएँ अत्याधिक सहायक है। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य इन संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त राजनीतिक व प्रशासनिक अनुभव एवं ज्ञान का उपयोग राष्ट्रीय या प्रान्तीय स्तर पर कर सकते हैं। चर्चिल, मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस, लाला लाजपतराय, सरदार बल्लम भाई पटेल, फिरोजशाह मेहता जैसे सर्वमान्य नेताओं ने अपना सार्वजनिक जीवन स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से ही शुरू किया था।[xvi]

उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका और मुनि की रेती (टिहरी गढ़वाल) नगर पालिका का तुलनात्मक अध्ययन-

प्रस्तुत शोध पत्र में उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका और मुनि की रेती (टिहरी गढ़वाल) नगर पालिका का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नगरपालिकाएँ स्थानीय प्रशासन के महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका कार्य शहरी विकास, नागरिक सेवाओं का प्रबंधन, और बुनियादी ढांचे का विकास करना है। उत्तराखंड जैसे पर्वतीय राज्य में, नगरपालिकाओं की भूमिका विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि यहाँ की भौगोलिक चुनौतियाँ और जनसंख्या का प्रवासन स्थानीय प्रशासन के लिए अनेक बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। इस अध्याय में, हम दो नगरपालिकाओं की कार्यप्रणाली, विकासात्मक योजनाएँ, वित्तीय प्रबंधन, स्वास्थ्य सेवाएँ, पर्यावरण प्रबंधन, और नागरिक भागीदारी के पहलुओं का विश्लेषण करेंगे। यह अध्ययन न केवल इन नगरपालिकाओं की कार्यशैली की तुलना किया गया है।

इसके अलावा, यह अध्ययन नगरपालिकाओं की चुनौतियों और अवसरों को भी उजागर किया गया है, जिससे स्थानीय प्रशासन की क्षमताओं और प्रभावशीलता को समझा जा सके। बाड़ाहाट और मुनि की रेती के विकासात्मक दृष्टिकोण से यह तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्थानीय नीतियों और योजनाओं को सुधारने के लिए उपयोगी अंतर्दृष्टि प्रदान करेगा। इस शोध पत्र का उद्देश्य पाठकों को

नगरपालिकाओं के प्रशासन, उनके कार्यों, और उनके विकासात्मक दृष्टिकोण के बारे में गहराई से अवगत कराना है, ताकि वे शहरी विकास में स्थानीय प्रशासन की भूमिका को समझ सकें।

भौगोलिक परिदृश्य- उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका, गढ़वाल हिमालय की गोद में स्थित एक प्रमुख नगर निकाय है। यह नगर भागीरथी नदी के किनारे बसा है और समुद्र तल से लगभग 1,158 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। उत्तरकाशी का प्राकृतिक परिदृश्य अत्यधिक आकर्षक और विविधतापूर्ण है, जिसमें हिमालयी पर्वतों की सुरम्य श्रृंखलाएँ, घने वन, और गहरी घाटियाँ शामिल हैं।[xvii] यह क्षेत्र धार्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'उत्तरकाशी' का शाब्दिक अर्थ 'उत्तर की काशी' है, जो इसे काशी (वाराणसी) की धार्मिक और सांस्कृतिक महत्ता से जोड़ता है। यहाँ स्थित काशी विश्वनाथ मंदिर और गंगोत्री धाम इसे हिंदू तीर्थयात्रियों के लिए एक अत्यंत पवित्र स्थल बनाते हैं। विशेष रूप से गंगोत्री धाम, गंगा नदी के प्रमुख स्रोतों में से एक होने के कारण उत्तरकाशी का धार्मिक महत्व और अधिक बढ़ाता है। उत्तरकाशी न केवल धार्मिक धरोहरों का केंद्र है, बल्कि यह क्षेत्र प्राकृतिक आपदाओं, जैसे भूकंप और भूस्खलन के प्रति भी संवेदनशील है। भूकंपीय क्षेत्र (Seismic Zone IV) में होने के कारण यहाँ भूकंप और प्राकृतिक आपदाओं का खतरा हमेशा बना रहता है।[xviii] इसलिए, नगर की शहरी योजना और विकास में आपदा प्रबंधन और सुरक्षा उपायों का विशेष ध्यान रखा जाता है।

इतिहास परिदृश्य- टिहरी गढ़वाल उत्तराखंड राज्य के बाहरी हिमालयी दक्षिणी ढलान पर पड़ने वाला एक पवित्र पहाड़ी जिला है। कहा जाता है की इस ब्रह्माण्ड की रचना से पूर्व भगवान् ब्रह्मा ने इस पवित्र भूमि पर तपस्या की थी। इस जिले में पड़ने वाले दो स्थान मुनि की रेती एवं तपोवन प्राचीन काल में ऋषियों की तप स्थली थी। यहाँ के पर्वतीय इलाके एवं संचार के साधनों की कमी के कारण यहाँ संस्कृति अभी तक संरक्षित है। टिहरी गढ़वाल का नाम दो शब्द टिहरी एवं गढ़वाल से मिल कर बना है , जिस में उपसर्ग टिहरी वास्तव में त्रिहरी का अपभ्रंश है,[xix] जो की उस स्थान का प्रतीक है जो तीन प्रकार के पापों को धोने वाला है ये तीन पाप क्रमश 1. विचारों से उत्पन्न पाप (मनसा) 2. शब्दों से उत्पन्न पाप (वचसा) 3. कर्मों से उत्पन्न पाप (कर्मणा)। इसी प्रकार दुसरे भाग गढ़ का अर्थ है देश का किला। वास्तव में पुराने दिनों में किलों की संख्या के कब्जे को उनके शासक की समृधि और शक्ति को मापने वाली छड़ी मन जाता था।

उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका- यह नगर प्रमुख रूप से हिमालय की प्राकृतिक संपदाओं पर निर्भर है। यहाँ के घने वन, नदी तंत्र और पर्वत श्रृंखलाएँ इसे पर्यावरणीय दृष्टि से संवेदनशील बनाते हैं। उत्तरकाशी में भूस्खलन, नदी कटाव और बाढ़ जैसी समस्याएँ आम हैं। इसके अलावा, यह क्षेत्र भूकंपीय जोन में स्थित है, जिससे यहाँ प्राकृतिक आपदाओं का खतरा अधिक होता है। नगर प्रशासन द्वारा जलवायु परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाओं से निपटने के लिए कई योजनाएँ और कार्यक्रम संचालित किए जाते हैं, लेकिन इनकी प्रभावशीलता अभी भी एक चुनौती बनी हुई है।[xx]

मुनि की रेती नगर पालिका- मुनि की रेती का पर्यावरणीय संदर्भ मुख्य रूप से गंगा नदी और उसके किनारों पर आधारित है। गंगा की स्वच्छता और संरक्षण यहाँ की सबसे बड़ी पर्यावरणीय चुनौती है। इसके अतिरिक्त,

शहरीकरण और बढ़ते पर्यटन के प्रभाव से गंगा के किनारे प्रदूषण की समस्या बढ़ती जा रही है। नगर पालिका द्वारा गंगा की स्वच्छता को सुनिश्चित करने के लिए गंगा स्वच्छता अभियान के तहत कई उपाय किए जा रहे हैं। पर्यावरण संरक्षण और टिकाऊ विकास के लिए यहाँ के स्थानीय प्रशासन और योग संस्थानों द्वारा भी अनेक प्रयास किए जा रहे हैं।

प्रशासनिक नीतियों और कार्यप्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन-

उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका और मुनि की रेती नगर पालिका के प्रशासनिक ढांचों का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि दोनों नगरपालिकाएँ अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करती हैं। उत्तरकाशी बाड़ाहाट नगर पालिका अधिकतर बुनियादी सेवाओं, जैसे जल आपूर्ति, सफाई और शहरी नियोजन पर केंद्रित होती है, जबकि मुनि की रेती नगर पालिका का ध्यान धार्मिक पर्यटन, पर्यावरणीय संरक्षण और योगिक गतिविधियों के प्रबंधन पर होता है।[xxi] तुलनात्मक रूप से मुख्य अंतर उत्तरकाशी में बुनियादी सेवाओं और शहरी विकास को प्राथमिकता दी जाती है, जबकि मुनि की रेती में धार्मिक और योगिक पर्यटन पर अधिक ध्यान केंद्रित होता है। मुनि की रेती में पर्यावरणीय संरक्षण की नीतियाँ अधिक कठोर और संरचित होती हैं, जबकि उत्तरकाशी में जनसंख्या विस्तार और शहरीकरण से उत्पन्न चुनौतियों का समाधान प्राथमिकता होता है।

सेवाएँ एवं योजनाएँ: उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती नगरपालिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन-

सेवाएँ और योजनाएँ किसी भी नगर पालिका की आधारशिला होती हैं। ये नगरपालिकाएँ नागरिकों की आवश्यकताओं को पूरा करने और क्षेत्र के समग्र विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस खंड में उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती नगरपालिकाओं में स्वास्थ्य, शिक्षा, जल प्रबंधन, स्वच्छता, परिवहन, और अन्य प्रमुख स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबंधन नगरपालिकाओं की प्राथमिक जिम्मेदारी होती है। इसमें स्वास्थ्य केंद्रों का संचालन, सफाई व्यवस्था, और स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता अभियान शामिल हैं।

चुनौतियाँ और अवसर: उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती नगरपालिकाओं का विश्लेषण-

इस खंड में उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती नगरपालिकाओं के समक्ष आने वाली प्रमुख चुनौतियों और विकास के अवसरों का विस्तार से अध्ययन किया जाएगा। यह विश्लेषण न केवल वर्तमान स्थितियों को समझने में मदद करेगा, बल्कि भविष्य के लिए योजना बनाने में भी सहायक सिद्ध होगा।

उत्तरकाशी बाड़ाहाट: मुख्य चुनौतियाँ-

नगर पालिका में सड़क, जलापूर्ति, और विद्युत आपूर्ति जैसी बुनियादी सुविधाओं का विकास अभी भी अधूरा है। विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कें खराब हैं, जिससे आपातकालीन सेवाओं और परिवहन में कठिनाई होती है। शहर के भीतर ट्रैफिक की समस्या भी बढ़ रही है, जिससे यातायात जाम और प्रदूषण में वृद्धि

हो रही है। स्वास्थ्य सेवाओं की कमी और स्वास्थ्य कर्मियों की अपर्याप्तता स्वास्थ्य सुविधाओं के प्रभावी प्रबंधन में बाधा डाल रही है।

मुनि की रेती: मुख्य चुनौतियाँ-

मुनि की रेती मुख्य रूप से पर्यटन पर निर्भर है, जिससे स्थानीय अर्थव्यवस्था में स्थिरता की कमी आ रही है। यदि पर्यटकों की संख्या में कमी आती है, तो स्थानीय व्यवसायों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। उच्च सीजन में पर्यटकों की भीड़ के कारण स्थानीय संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। बढ़ते पर्यटन के कारण पर्यावरण पर दबाव बढ़ रहा है। कचरा प्रबंधन और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक उपयोग स्थानीय पारिस्थितिकी को नुकसान पहुँचा रहा है। गंगा नदी के किनारे होने के कारण जल प्रदूषण की समस्या गंभीर होती जा रही है, जो पर्यटन पर भी असर डालती है। तेज़ी से हो रहे विकास और शहरीकरण के कारण स्थानीय संस्कृति और परंपराओं का क्षय हो रहा है, जिससे सामाजिक संरचना में परिवर्तन आ रहा है। स्थानीय लोगों के लिए यह चुनौती है कि वे अपनी संस्कृति को बनाए रखें जबकि वे पर्यटन उद्योग से लाभ भी उठाना चाहते हैं।

उत्तरकाशी बाड़ाहाट: विकास के अवसर-

यदि स्थानीय प्रशासन स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में नई योजनाएँ बनाता है, तो यह सामाजिक विकास के लिए एक बड़ा अवसर हो सकता। विशेष रूप से डिजिटल शिक्षा और स्वास्थ्य जागरूकता कार्यक्रमों को लागू करने से नागरिकों का जीवन स्तर सुधर सकता है। समुदाय आधारित कार्यक्रमों के माध्यम से स्वच्छता और स्वास्थ्य के मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया जा सकता है। उत्तरकाशी की प्राकृतिक सुंदरता और जैव विविधता को संरक्षित करने के लिए पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता है। इससे पर्यटन को बढ़ावा मिल सकता है और स्थानीय अर्थव्यवस्था में सुधार हो सकता है। स्थानीय समुदायों को पर्यावरणीय पहलुओं में शामिल करना, जैसे वृक्षारोपण और जल संरक्षण गतिविधियाँ, को बढ़ावा दिया जा सकता है। नगर पालिका द्वारा स्वच्छता अभियानों का सफल क्रियान्वयन नागरिकों को बेहतर जीवन स्तर प्रदान कर सकता है।

मुनि की रेती: विकास के अवसर-

मुनि की रेती को योग और आयुर्वेद के क्षेत्र में एक केंद्र के रूप में विकसित किया जा सकता है। इससे स्थानीय व्यवसाय को बढ़ावा मिलेगा और पर्यटन को स्थिरता मिलेगी। योग शिविरों और स्वास्थ्य संबंधी कार्यशालाओं का आयोजन करने से पर्यटकों और स्थानीय नागरिकों के बीच संबंध मजबूत हो सकते हैं। नागरिकों की भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए सामुदायिक संगठनों का सक्रिय उपयोग किया जा सकता है। इससे स्थानीय मुद्दों पर ध्यान दिया जा सकेगा और प्रशासन के साथ बेहतर संवाद स्थापित होगा। स्थानीय निवासियों को निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल करना, उनकी प्राथमिकताओं को समझने में मदद करेगा। नगर पालिका को स्थायी विकास योजनाएँ तैयार करने की आवश्यकता है, जो पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को संतुलित रूप से संबोधित करें। हरित ऊर्जा स्रोतों का उपयोग और कचरा प्रबंधन में नवाचार को अपनाकर स्थायी विकास को बढ़ावा दिया जा सकता है। मुनि की रेती में नई और इनोवेटिव पर्यटन योजनाएँ

लागू की जा सकती हैं, जैसे इको-टूरिज्म और एडवेंचर टूरिज्म, जो स्थानीय अर्थव्यवस्था को सशक्त बनाएंगी।[xxii] सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए स्थानीय त्योहारों और परंपराओं को पर्यटन का हिस्सा बनाया जा सकता है।

निष्कर्ष और सुझाव-

इस अध्याय में उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती नगरपालिकाओं के अध्ययन के प्रमुख निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही, भविष्य की दिशा और सुधार के लिए विस्तृत सुझाव भी विश्लेषित किया गया है। उत्तरकाशी बाड़ाहाट और मुनि की रेती दोनों नगरपालिकाएँ पहाड़ी क्षेत्र में स्थित हैं। इस भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ की जलवायु, पारिस्थितिकी, और आर्थिक गतिविधियाँ प्रभावित होती हैं। पर्यटकों के लिए यह क्षेत्र महत्वपूर्ण है, लेकिन प्राकृतिक आपदाओं का खतरा भी बना रहता है। जनसंख्या में युवा वर्ग की अधिकता है, जो विकास में सहायक हो सकता है। यहाँ की सामाजिक संरचना में विभिन्न जातियों और समुदायों का मिश्रण है, जो सांस्कृतिक विविधता को दर्शाता है। स्थानीय प्रशासन की कार्यप्रणाली जटिल और समय लेने वाली है। नीति निर्धारण में नागरिकों की भागीदारी की कमी के कारण विकास योजनाएँ प्रभावी नहीं हो पातीं। प्रशासनिक संस्थाओं में कर्मचारी और विशेषज्ञों की कमी है, जो कार्यक्षमता को प्रभावित करती है। स्वास्थ्य सेवाओं में असमानता है। दूरदराज के क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाओं की कमी से नागरिकों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में सुधार हो रहा है, लेकिन उच्च शिक्षा की सुविधाएँ सीमित हैं। डिजिटल शिक्षा की कमी भी समस्या का एक महत्वपूर्ण कारण है। जल संकट, विशेषकर गर्मियों में, एक गंभीर मुद्दा है। जल स्रोतों का संरक्षण और सही प्रबंधन आवश्यक है। परिवहन नेटवर्क में सुधार की आवश्यकता है, जिससे नागरिकों की आवाजाही में सुविधा हो सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

[i] Government of India. (1992). *The Constitution (Seventy-fourth Amendment) Act, 1992*. Ministry of Law and Justice, Government of India, pp. 1-3.

[ii] माहेश्वरी, एस.आर. (2017). *भारत में स्थानीय स्वशासन*. लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, पृ. 12–25.

[iii] Basu, D.D. (2018). *Introduction to the Constitution of India* (24th ed.). LexisNexis, pp. 389–395.

[iv] कश्यप, सुभाष. (2019). *भारतीय संविधान*. नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ. 210–218.

[v] Sharma, M.P. (2019). *Local Government in India*. Kitab Mahal Publications, pp. 16.

[vi] Kautilya. (2012). *Arthashastra* (R. Shamasastry, Trans.). Mysore Printing and Publishing House, pp. 45–60.

[vii] कश्यप, सुभाष. (2019). *भारतीय संविधान*. नेशनल बुक ट्रस्ट, पृ. 198–210.

[viii] Government of India. (1952). *Community Development Programme*. Ministry of Community Development, Government of India, pp. 1–20.

[ix] Government of India. (1957). *Report of the Team for the Study of Community Projects and National Extension Service* (Balwantrai Mehta Committee Report). Ministry of Community Development and Cooperation, pp. 45–68.

[x] Khanna, B.S. (2016). *Panchayati Raj in India*. Deep & Deep Publications, pp. 52–71.

[xi] Government of India. (1978). *Report of the Committee on Panchayati Raj Institutions* (Ashok Mehta Committee Report). Ministry of Rural Development, Government of India, pp. 32–58.

[xii] Government of India. (1985). *Report of the Committee to Review the Existing Administrative Arrangements for Rural Development and Poverty Alleviation Programmes* (G.V.K. Rao Committee Report). Ministry of Rural Development, pp. 65–84.

[xiii] Government of India. (1986). *Report of the Committee on Revitalisation of Panchayati Raj Institutions for Democracy and Development* (L.M. Singhvi Committee Report). Ministry of Rural Development, pp. 40–59.

[xiv] Government of India. (1992). *The Constitution (Seventy-fourth Amendment) Act, 1992*. Ministry of Law and Justice, Government of India, pp. 1–18.

[xv] Basu, D.D. (2018). *Introduction to the Constitution of India* (24th ed.). LexisNexis, pp. 438–445.

[xvi] माहेश्वरी, एस.आर. (2017). *भारत में स्थानीय स्वशासन*. लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, पृ. 52–68.

[xvii] Government of Uttarakhand. (2021). *Urban development report of Uttarakhand*. Department of Urban Development, Government of Uttarakhand.

[xviii] Government of India. (2020). *Swachh Bharat Mission (Urban): Annual report 2019–20*. Ministry of Housing and Urban Affairs.

[xix] Atkinson, E.T. (1882). *The Himalayan Gazetteer* (Vol. II: *The Garhwal District*). Government Press.

[xx] Uttarakhand Tourism Development Board. (2021). *Tourism policy and pilgrimage development report*. Government of Uttarakhand.

[xxi] Uttarakhand Tourism Development Board. (2022). *Yoga and spiritual tourism in Rishikesh region*. Uttarakhand Tourism

[xxii] भट्टाचार्य, पी., & शर्मा, एन. (2024). उत्तराखंड में स्प्रिंगशेड प्रबंधन कार्यक्रम: सामुदायिक भागीदारी और नीतिगत हस्तक्षेप. *पर्यावरण नीति और शासन, 19*(3), 28–144.

Manuscript Timeline
Submitted : *March 10, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

मनरेगा और पंचायती राज व्यवस्था : सारण जिला के दाउदपुर पंचायत में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण

अभिषेक कुमार सिंह[1]

सारांश

म*हात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम यानी मनरेगा भारत की ग्रामीण आजीविका सुरक्षा, स्थानीय संसाधन विकास और विकेंद्रीकृत शासन व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण योजना है। पंचायती राज संस्थाओं, विशेषकर ग्राम पंचायत और मुखिया, को इस योजना के कार्यान्वयन में केंद्रीय भूमिका दी गई है। प्रस्तुत शोध-पत्र में बिहार राज्य के सारण जिला के मांझी प्रखंड स्थित दाउदपुर पंचायत के संदर्भ में मनरेगा के क्रियान्वयन में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। दाउदपुर पंचायत सारण जिले के मांझी ब्लॉक में सूचीबद्ध है और जिला प्रशासन के आधिकारिक विवरण के अनुसार इसमें 14 वार्ड हैं। अध्ययन में यह पाया गया कि मनरेगा में मुखिया की भूमिका केवल प्रशासनिक हस्ताक्षर या योजना-स्वीकृति तक सीमित नहीं है, बल्कि वह ग्रामसभा की प्राथमिकताओं को सामने लाने, श्रमिकों की मांग दर्ज कराने, जॉब कार्ड और कार्य-आवंटन की प्रक्रिया को सुगम बनाने, कार्यस्थल की निगरानी, मजदूरी भुगतान के अनुवर्तन, सामाजिक अंकेक्षण और स्थानीय पारदर्शिता सुनिश्चित करने से भी जुड़ी है। मनरेगा दिशानिर्देशों के अनुसार ग्राम पंचायत पंजीकरण, जॉब कार्ड, काम की मांग, कार्य-आवंटन, परियोजना चयन, अभिलेख रखरखाव, ग्रामसभा बुलाने और सामाजिक अंकेक्षण हेतु दस्तावेज उपलब्ध कराने जैसी गतिविधियों के लिए जिम्मेदार है। दाउदपुर पंचायत के मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली में नहर सफाई, वृक्षारोपण, सड़क/बांध कार्य और प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण से जुड़े व्यक्तिगत लाभकारी कार्यों के उदाहरण मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि पंचायत स्तर पर मनरेगा का प्रयोग जल-संरक्षण, ग्रामीण अवसंरचना और आजीविका-सहायक परिसंपत्तियों के निर्माण में किया जा सकता है।*

मुख्य शब्द : *मनरेगा, पंचायती राज, मुखिया, ग्राम पंचायत, दाउदपुर पंचायत, सारण जिला, सामाजिक अंकेक्षण, ग्रामीण विकास।*

प्रस्तावना-

भारत का ग्रामीण विकास ढांचा दो महत्वपूर्ण आधारों पर खड़ा है, पहला, आजीविका सुरक्षा और दूसरा, स्थानीय स्वशासन। मनरेगा इन दोनों को जोड़ने वाली प्रमुख विधिक योजना है। यह योजना ग्रामीण परिवारों को मजदूरी आधारित रोजगार उपलब्ध कराती है और साथ ही जल-संरक्षण, भूमि-विकास, वृक्षारोपण,

[1] शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार).
ई-मेल- abhishekkumarsing0670@gmail.com; मो.- 9097200670

ग्रामीण संपर्क, तालाब, नहर, पईन, बांध और अन्य टिकाऊ परिसंपत्तियों के निर्माण में सहायता करती है। मनरेगा का महत्व इस बात में है कि यह केवल एक सरकारी योजना नहीं है, बल्कि ग्रामीण गरीबों के लिए काम मांगने का अधिकार भी है। मनरेगा में ग्राम पंचायत की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। आधिकारिक दिशानिर्देशों में ग्राम पंचायत को पंजीकरण आवेदन प्राप्त करने, आवेदन सत्यापित करने, परिवारों का पंजीकरण करने, जॉब कार्ड जारी करने, काम की मांग स्वीकार करने, दिनांकित रसीद देने और 15 दिनों के भीतर काम उपलब्ध कराने जैसी जिम्मेदारियां दी गई हैं। इसी कारण मुखिया, जो ग्राम पंचायत का निर्वाचित नेतृत्व है, योजना के वास्तविक क्रियान्वयन में केंद्रबिंदु बन जाता है। बिहार जैसे राज्य में, जहाँ ग्रामीण रोजगार, मौसमी पलायन, कृषि पर निर्भरता और बाढ़/जल-जमाव जैसी समस्याएँ अक्सर सामने आती हैं, वहाँ मनरेगा का महत्व और बढ़ जाता है। सारण जिला गंगा, घाघरा और गंडक नदी तंत्र से प्रभावित क्षेत्र है। इस प्रकार के भूगोल में जल निकासी, सफाई, मिट्टी भराई, वृक्षारोपण और ग्रामीण संपर्क जैसे कार्य स्थानीय जीवन से सीधे जुड़े हुए हैं[1]।

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, अर्थात् मनरेगा, ग्रामीण परिवारों को रोजगार उपलब्ध कराने और उनकी आजीविका को मजबूत करने के उद्देश्य से लागू की गई एक महत्त्वपूर्ण योजना है। यह योजना ग्रामीण गरीबों, भूमिहीन मजदूरों, कमजोर वर्गों और महिलाओं के लिए आजीविका सुरक्षा का साधन बन सकती है। लेकिन किसी भी योजना की सफलता उसके कागजी प्रावधानों से नहीं, बल्कि उसके प्रभावी क्रियान्वयन से निर्धारित होती है। मनरेगा का वास्तविक क्रियान्वयन ग्राम पंचायत स्तर पर होता है। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि ग्राम पंचायत के निर्वाचित प्रमुख यानी मुखिया इस योजना को सफल बनाने में कितनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं। पंचायती राज व्यवस्था भारत में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण का आधार है। इसके माध्यम से सत्ता और निर्णय प्रक्रिया को गाँव के लोगों के निकट लाने का प्रयास किया गया है। ग्रामसभा, ग्राम पंचायत और पंचायत प्रतिनिधि ग्रामीण जनता की समस्याओं को पहचानने तथा स्थानीय संसाधनों के अनुसार विकास योजनाएँ तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मुखिया ग्राम पंचायत का प्रमुख प्रतिनिधि होता है और वह स्थानीय जनता, पंचायत कर्मियों तथा सरकारी प्रशासन के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है। इसलिए दाउदपुर पंचायत में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण यह समझने में सहायक होगा कि पंचायती राज व्यवस्था स्थानीय स्तर पर कितनी प्रभावी और जनकेंद्रित है।

मनरेगा की सफलता ग्रामसभा की सक्रियता और पंचायत की पारदर्शिता से गहराई से जुड़ी होती है। मनरेगा के अंतर्गत कौन-सा कार्य चुना जाएगा, किस क्षेत्र में काम की आवश्यकता है, किन लोगों को रोजगार की जरूरत है और किस प्रकार कार्यस्थल की व्यवस्था की जाएगी, इन सभी बातों में स्थानीय नेतृत्व की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। मुखिया यदि ग्रामसभा को सक्रिय बनाते हैं, लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करते हैं और जरूरत आधारित कार्यों को प्राथमिकता देते हैं, तो योजना का लाभ अधिक प्रभावी ढंग से जनता तक पहुँच सकता है। इसके विपरीत यदि ग्रामसभा औपचारिक बनकर रह जाए या निर्णय प्रक्रिया में आम लोगों की भागीदारी कम हो, तो योजना का उद्देश्य कमजोर हो सकता है।

दाउदपुर पंचायत जैसे स्थानीय क्षेत्र का अध्ययन इस विषय को और अधिक व्यावहारिक बनाता है। राष्ट्रीय या राज्य स्तर पर योजनाओं का अध्ययन सामान्य चित्र प्रस्तुत करता है, लेकिन पंचायत स्तर पर अध्ययन करने से वास्तविक समस्याएँ, स्थानीय परिस्थितियाँ और प्रशासनिक व्यवहार सामने आते हैं। इस शोध से यह समझा जा सकता है कि मनरेगा के अंतर्गत जॉब कार्ड, काम की मांग, मजदूरी भुगतान, कार्यस्थल सुविधाएँ, निगरानी, सामाजिक अंकेक्षण और पारदर्शिता जैसे पहलुओं में मुखिया की भूमिका कैसी है। यह अध्ययन यह भी दिखा सकता है कि स्थानीय नेतृत्व योजना को केवल सरकारी प्रक्रिया के रूप में देखता है या इसे ग्रामीण विकास और गरीबों के अधिकार से जोड़कर समझता है[2]।इस शोध पत्र विषय का सामाजिक महत्त्व भी अत्यंत व्यापक है। मनरेगा का संबंध सीधे उन लोगों से है जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं और जिनके पास नियमित आय के साधन सीमित होते हैं। यदि योजना सही ढंग से लागू होती है, तो ग्रामीण मजदूरों को गाँव में ही रोजगार मिल सकता है, पलायन की प्रवृत्ति कम हो सकती है और गरीब परिवारों की आर्थिक स्थिति में सुधार आ सकता है। लेकिन इस प्रक्रिया में मुखिया की भूमिका निर्णायक हो सकती है। मुखिया स्थानीय जरूरतों को समझते हैं और पंचायत के लोगों से सीधे संपर्क में रहते हैं। वे यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि योजना का लाभ केवल प्रभावशाली लोगों तक सीमित न रहे, बल्कि जरूरतमंद, गरीब, महिलाएँ, वृद्ध, दलित, पिछड़े और अन्य कमजोर वर्ग भी इसमें शामिल हों।

मनरेगा में मजदूरी भुगतान, मस्टर रोल, कार्य की गुणवत्ता, सामग्री खर्च, कार्यस्थल निरीक्षण और सामाजिक अंकेक्षण जैसे कई ऐसे बिंदु हैं, जहाँ पारदर्शिता अत्यंत आवश्यक है। मुखिया यदि कार्यों की नियमित निगरानी करते हैं, मजदूरों की शिकायतें सुनते हैं, भुगतान में देरी की स्थिति में फॉलो-अप करते हैं और ग्रामसभा में जानकारी साझा करते हैं, तो जनता का विश्वास बढ़ता है। इससे पंचायत व्यवस्था अधिक जवाबदेह बनती है। दूसरी ओर, यदि निगरानी कमजोर हो, सूचना का अभाव हो या निर्णय प्रक्रिया में पारदर्शिता न हो, तो योजना के प्रति लोगों का विश्वास कम हो सकता है। इसलिए यह अध्ययन स्थानीय लोकतंत्र की गुणवत्ता को समझने में भी उपयोगी है। मनरेगा केवल मजदूरी देने वाली योजना नहीं है, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में टिकाऊ परिसंपत्तियों के निर्माण से भी जुड़ी है। इसके अंतर्गत सड़क, तालाब, जल संरक्षण, भूमि सुधार, नाली, पौधारोपण और अन्य सामुदायिक कार्यों के माध्यम से गाँव की बुनियादी संरचना को मजबूत किया जा सकता है। यदि मुखिया स्थानीय जरूरतों के अनुसार सही कार्यों का चयन करते हैं, तो मनरेगा पंचायत के दीर्घकालीन विकास में योगदान दे सकती है। इस शोध से यह समझा जा सकता है कि दाउदपुर पंचायत में कार्य-चयन किस हद तक स्थानीय आवश्यकता, गरीबों के हित और सामुदायिक विकास से जुड़ा हुआ है।

यह विषय प्रशासनिक अध्ययन की दृष्टि से भी उपयोगी है। पंचायत स्तर पर कई अधिकारी, कर्मचारी और प्रतिनिधि मिलकर योजना का संचालन करते हैं। मुखिया, पंचायत सचिव, रोजगार सेवक, तकनीकी सहायक और प्रखंड स्तर के अधिकारी आपसी समन्वय से कार्य करते हैं। यदि इस समन्वय में कमी हो, तो योजना के क्रियान्वयन में बाधाएँ आ सकती हैं। इसलिए मुखिया की भूमिका केवल नेतृत्व तक सीमित नहीं है, बल्कि समन्वय, संचार, निगरानी और जनसंपर्क से भी जुड़ी हुई है। इस शोध के माध्यम से यह जाना जा सकता

है कि पंचायत और प्रशासन के बीच संबंध योजना की सफलता को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। नीतिगत दृष्टि से भी यह शोध उपयोगी हो सकता है। दाउदपुर पंचायत के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष अन्य पंचायतों के लिए भी संकेतक के रूप में काम कर सकते हैं। यदि अध्ययन में यह पाया जाता है कि ग्रामसभा की सक्रियता, मजदूरों को जानकारी, समय पर भुगतान, सामाजिक अंकेक्षण और पारदर्शिता से योजना बेहतर होती है, तो ऐसी प्रक्रियाओं को मजबूत करने की आवश्यकता पर बल दिया जा सकता है। इसी प्रकार यदि समस्याएँ सामने आती हैं, तो पंचायत प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण, जागरूकता अभियान, तकनीकी सहायता और शिकायत निवारण व्यवस्था में सुधार के सुझाव दिए जा सकते हैं। यह शोध विषय केवल मनरेगा या मुखिया की भूमिका तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण लोकतंत्र, स्थानीय विकास, आजीविका सुरक्षा, सामाजिक समावेशन और प्रशासनिक जवाबदेही जैसे व्यापक मुद्दों से जुड़ा हुआ है[3]। सारण जिला के दाउदपुर पंचायत में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण स्थानीय शासन की वास्तविकता को सामने लाने में सहायक होगा। यह अध्ययन यह समझने का प्रयास करेगा कि पंचायत प्रतिनिधि किस प्रकार सरकारी योजनाओं को जनता की जरूरतों से जोड़ते हैं और ग्रामीण विकास को अधिक प्रभावी, पारदर्शी तथा सहभागी बना सकते हैं। इसी कारण यह शोध विषय अकादमिक, सामाजिक और नीतिगत सभी दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। दाउदपुर पंचायत, जो सारण जिला के मांझी ब्लॉक में स्थित है, ऐसे अध्ययन के लिए उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करती है।

अध्ययन के उद्देश्य-

इस शोध-पत्र के प्रमुख उद्देश्य हैं:

1. मनरेगा और पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्संबंध को समझना।
2. दाउदपुर पंचायत में मनरेगा के क्रियान्वयन में मुखिया की भूमिका का विश्लेषण करना।
3. ग्रामसभा, ग्राम पंचायत, मुखिया और श्रमिकों के बीच संबंधों को समझना।
4. योजना-चयन, कार्यान्वयन, मजदूरी भुगतान और सामाजिक अंकेक्षण में मुखिया की भूमिका का मूल्यांकन करना।
5. दाउदपुर पंचायत के उदाहरणों के आधार पर स्थानीय शासन की चुनौतियों और संभावनाओं को रेखांकित करना।

शोध-पद्धति-

यह अध्ययन गुणात्मक, वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें द्वितीयक स्रोतों के रूप में मनरेगा के आधिकारिक दिशानिर्देश, मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली, सारण जिला प्रशासन की पंचायत-सूची और पंचायती राज से संबंधित सरकारी स्रोतों का उपयोग किया गया है।दाउदपुर पंचायत से संबंधित कार्यों के उदाहरण मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली के उपलब्ध search snippets पर आधारित हैं। ये snippets दाउदपुर पंचायत, मांझी ब्लॉक, सारण जिला के अंतर्गत पईन सफाई, वृक्षारोपण, सड़क/बांध और प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण से जुड़े कार्यों का संकेत देते हैं।

अध्ययन क्षेत्र: दाउदपुर पंचायत, सारण जिला-

सारण जिला प्रशासन की आधिकारिक पंचायत-सूची में दाउदपुर पंचायत को मांझी ब्लॉक के अंतर्गत दिखाया गया है। उसी सूची में दाउदपुर के 14 वार्ड बताए गए हैं। यह तथ्य अध्ययन की भौगोलिक सीमा को स्पष्ट करता है।दाउदपुर पंचायत में मनरेगा के अंतर्गत कार्यों की प्रकृति ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओं से जुड़ी दिखाई देती है। मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली में "नहर की सफाई"पौधों की रोपाई", "सड़क किनारे पौधों को लगाना", "प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण जैसे कार्यों का उल्लेख मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि पंचायत स्तर पर मनरेगा का उपयोग जल-निकासी, हरित आवरण, ग्रामीण संपर्क और व्यक्तिगत लाभकारी परिसंपत्तियों के लिए किया जा रहा है[4]।

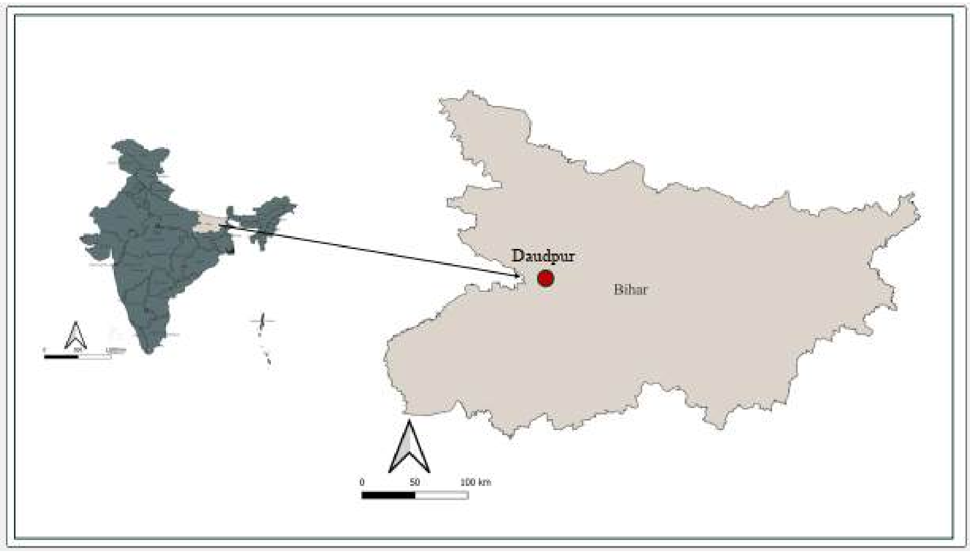

चित्र 1. - दाऊदपुर का मानचित्र

मनरेगा और पंचायती राज व्यवस्था का वैधानिक संबंध-

मनरेगा का मूल दर्शन विकेंद्रीकरण, रोजगार-अधिकार और स्थानीय संसाधन-आधारित विकास पर आधारित है। ग्रामसभा को योजना-निर्धारण और निगरानी में अधिकार दिया गया है। ग्रामसभा कार्यों की प्राथमिकता निर्धारित करती है, ग्राम पंचायत क्षेत्र में कार्यों के निष्पादन की निगरानी करती है और सामाजिक अंकेक्षण का प्राथमिक मंच है। ग्राम पंचायत की भूमिका इससे भी व्यापक है। उसे जॉब कार्ड, काम की मांग, कार्य-आवंटन, कार्यों की पहचान, परियोजनाओं की shelf तैयार करने, अभिलेख रखने, उपयोगिता प्रमाणपत्र देने, ग्रामसभा बुलाने, social audit के लिए muster roll, bills, vouchers और measurement books उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी दी गई है। बिहार में पंचायती राज व्यवस्था का विधिक आधार Bihar Panchayati Raj Act, 2006 है। पंचायती राज मंत्रालय के आधिकारिक पेज पर Bihar Panchayati Raj Act, 2006 को उपलब्ध कराया गया है। इसलिए मनरेगा में मुखिया की भूमिका को केवल योजना-प्रबंधक के रूप में नहीं, बल्कि स्थानीय स्वशासन के निर्वाचित प्रतिनिधि के रूप में समझना चाहिए।

दाउदपुर पंचायत में मुखिया की भूमिका: विश्लेषण

- **ग्रामसभा और कार्य-चयन में भूमिका-** मनरेगा में कार्यों की प्राथमिकता ग्रामसभा द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। दाउदपुर पंचायत जैसे 14 वार्डों वाले ग्राम पंचायत क्षेत्र में मुखिया की पहली भूमिका यह है कि वह हर वार्ड की जरूरतों को ग्रामसभा या वार्डसभा के माध्यम से सामने लाए। उदाहरण के लिए, यदि किसी वार्ड में जल-जमाव की समस्या है, तो पईन/नहर सफाई को प्राथमिकता दी जा सकती है। यदि किसी टोले में सड़क किनारे कटाव या हरियाली की कमी है, तो वृक्षारोपण कार्य चुना जा सकता है। दाउदपुर से संबंधित MIS snippets में पईन सफाई और सड़क किनारे plantation जैसे कार्यों का उल्लेख मिलता है।
- **जॉब कार्ड और काम की मांग में भूमिका-** मनरेगा demand-driven योजना है। इसका अर्थ है कि रोजगार तभी प्रभावी होगा जब मजदूर काम मांगें और ग्राम पंचायत उस मांग को दर्ज करे। ग्राम पंचायत को काम की मांग प्राप्त करने और दिनांकित रसीद देने की जिम्मेदारी दी गई है। मुखिया की भूमिका यहाँ सुविधा प्रदाता की है। वह ग्रामीणों को यह बताता है कि काम मांगना उनका अधिकार है, कृपा नहीं। कमजोर वर्ग, भूमिहीन परिवार, विधवा महिलाएँ, वृद्ध श्रमिक और मौसमी प्रवासी परिवारों को काम की मांग दर्ज कराने में सहायता देना पंचायत नेतृत्व की सामाजिक जिम्मेदारी है।
- **कार्य-आवंटन और 15 दिन की समय-सीमा-** आधिकारिक प्रावधानों के अनुसार काम की मांग के बाद 15 दिनों के भीतर काम उपलब्ध होना चाहिए, अन्यथा बेरोजगारी भत्ता देय हो सकता है। श्रमिकों को साप्ताहिक आधार पर और किसी भी स्थिति में कार्य की तारीख से पखवाड़े के भीतर भुगतान का अधिकार बताया गया है। दाउदपुर पंचायत में मुखिया की प्रभावी भूमिका यह होगी कि वह पंचायत रोजगार सेवक, तकनीकी सहायक, कार्यक्रम पदाधिकारी और प्रखंड कार्यालय के साथ समन्वय बनाए, ताकि मांग दर्ज होने के बाद worksite समय पर खुल सके[5]।
- **कार्यस्थल निगरानी और गुणवत्ता नियंत्रण-** मनरेगा के अंतर्गत ऐसे कार्यों को प्राथमिकता दी जाती है जो टिकाऊ परिसंपत्तियाँ बनाते हैं और गरीबों के आजीविका संसाधनों को मजबूत करते हैं। दिशानिर्देशों में 60:40 मजदूरी-सामग्री अनुपात और श्रम-प्रतिस्थापित मशीनों से बचने का भी उल्लेख है। इस संदर्भ में मुखिया की भूमिका दोहरी है, पहली, श्रमिकों को वास्तविक काम मिले; दूसरी, कार्य की गुणवत्ता बनी रहे। यदि पईन सफाई केवल कागज पर हो और जल-निकासी में सुधार न हो, तो मनरेगा का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। यदि plantation work में पौधे लगाए जाएँ पर उनका संरक्षण न हो, तो परिसंपत्ति टिकाऊ नहीं होगी।
- **मजदूरी भुगतान और पारदर्शिता-** मनरेगा में भुगतान प्रणाली अब MIS, FTO, PFMS और Aadhaar Based Payment System जैसी डिजिटल प्रक्रियाओं से जुड़ चुकी है। आधिकारिक MGNREGA portal ABPS को मजदूरी भुगतान की प्रणाली के रूप में वर्णित करता है। मुखिया सीधे बैंक भुगतान नहीं करता, पर वह भुगतान में देरी, rejected transactions, गलत account mapping और श्रमिकों की शिकायतों को प्रखंड स्तर तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। महिला

और पुरुष श्रमिकों के बीच मजदूरी में भेदभाव नहीं होना चाहिए; आधिकारिक FAQ में स्पष्ट है कि gender के आधार पर मजदूरी में भेदभाव नहीं किया जा सकता। बिहार के लिए FY 2025–26 में MGNREGA wage rate ₹255 प्रतिदिन बताया गया है।

- **सामाजिक अंकेक्षण और जवाबदेही-** मनरेगा में सामाजिक अंकेक्षण ग्रामसभा के माध्यम से जवाबदेही सुनिश्चित करने का प्रमुख माध्यम है। आधिकारिक पोर्टल के अनुसार Gram Sabha को सभी कार्यों और खर्चों का social audit करने का अधिकार है, और Gram Panchayat को muster rolls, bills, vouchers, measurement books और sanction orders जैसे दस्तावेज ग्रामसभा को उपलब्ध कराने होते हैं। दाउदपुर पंचायत में मुखिया की वास्तविक परीक्षा यहीं होती है। यदि ग्रामसभा नियमित हो, notice public हो, मजदूरों को जानकारी मिले और कार्यस्थल पर board लगे, तो पारदर्शिता बढ़ती है। लेकिन यदि ग्रामसभा केवल औपचारिकता बन जाए, तो योजना में भ्रष्टाचार, फर्जी attendance, भुगतान विलंब और घटिया परिसंपत्तियों की समस्या बढ़ सकती है[6]।

दाउदपुर पंचायत के संदर्भ में उदाहरण-

उदाहरण 1: पईन/नहर सफाई कार्य

दाउदपुर पंचायत से संबंधित MGNREGA snippets में नहर सफाई कार्यों का उल्लेख मिलता है। ऐसे कार्य जल निकासी, सिंचाई, जल-जमाव कम करने और कृषि उपयोगिता से जुड़े होते हैं। मुखिया की भूमिका इसमें ग्रामसभा से प्राथमिकता तय कराने, श्रमिकों को काम से जोड़ने और कार्य की वास्तविक उपयोगिता सुनिश्चित करने की होती है।

उदाहरण 2: वृक्षारोपण कार्य

दाउदपुर से जुड़े snippets में plantation work का उल्लेख मिलता है। वृक्षारोपण कार्य पर्यावरणीय दृष्टि से उपयोगी है, पर इसका परिणाम तभी मिलता है जब पौधों की सुरक्षा और रखरखाव हो। मुखिया को स्थानीय विद्यालय, स्वयं सहायता समूह, वार्ड सदस्य और ग्रामीण युवाओं को संरक्षण प्रक्रिया से जोड़ना चाहिए।

उदाहरण 3: प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण से जुड़े व्यक्तिगत लाभकारी कार्य

मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली snippet में दाउदपुर पंचायत के अंतर्गत प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण house construction for individuals का उल्लेख भी दिखाई देता है। ऐसे कार्यों में मनरेगा मजदूरी सहायता के माध्यम से गरीब परिवारों के आवास निर्माण को समर्थन मिल सकता है। मुखिया की भूमिका लाभार्थी चयन में पारदर्शिता, मजदूरी मांग और convergence coordination की होती है।

उदाहरण 4: सड़क/बांध/मिट्टी भराई

MGNREGA snippets में दाउदपुर क्षेत्र में सड़क किनारे plantation और बांध/मिट्टी से संबंधित कार्यों का संकेत मिलता है। ऐसे कार्य ग्रामीण संपर्क, जल-नियंत्रण और आवागमन को प्रभावित करते हैं।

मुखिया को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि कार्य केवल राजनीतिक प्रभाव वाले टोले में न हो, बल्कि जरूरत आधारित चयन हो।

मुखिया की भूमिका का उदाहरणात्मक वितरण-

नीचे दिया गया टेबल एक **उदाहरण-स्वरूप सर्वेक्षण मॉडल** है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि यदि दाउदपुर पंचायत में 100 प्रतिवादी से पूछा जाए कि मनरेगा में मुखिया की सबसे प्रमुख भूमिका क्या है, तो उत्तरों का एक संभावित वितरण ऐसा हो सकता है।

भूमिका का क्षेत्र: प्रतिशत वितरण

दिए गए आँकड़ों के आधार पर पाई चार्ट और तालिका

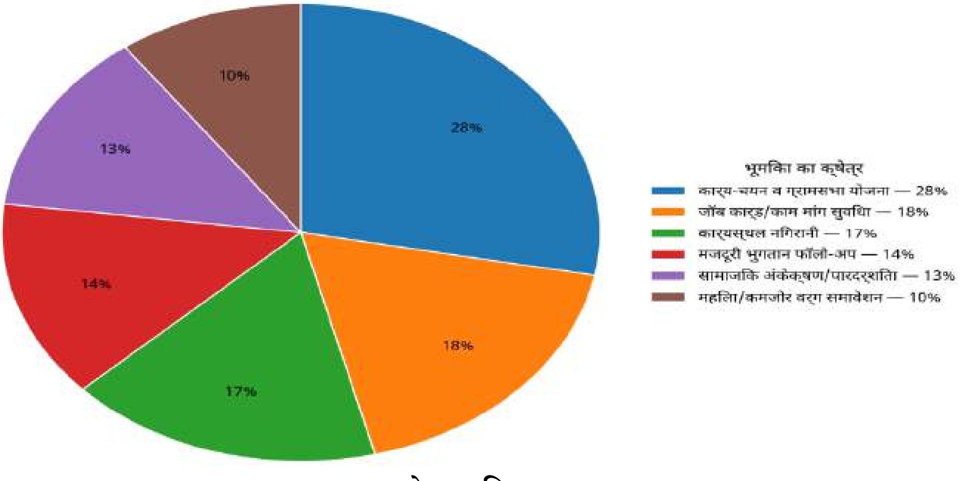

डेटा तालिका

क्रमांक	**भूमिका का क्षेत्र**	**प्रतिशत**
1	कार्य-चयन व ग्रामसभा योजना	28%
2	जॉब कार्ड/काम मांग सुविधा	18%
3	कार्यस्थल निगरानी	17%
4	मजदूरी भुगतान फॉलो-अप	14%
5	सामाजिक अंकेक्षण/पारदर्शिता	13%
6	महिला/कमजोर वर्ग समावेशन	10%

नोट: कुल प्रतिशत 100% है।

इस चार्ट से स्पष्ट किया जा सकता है कि मुखिया की सबसे बड़ी भूमिका योजना-निर्धारण और ग्रामसभा आधारित प्राथमिकता में मानी जा सकती है। इसके बाद रोजगार मांग, कार्यस्थल निगरानी और भुगतान संबंधी फॉलो-अप आते हैं।

प्रमुख निष्कर्ष-

दाउदपुर पंचायत के संदर्भ में मुखिया की भूमिका को निम्न बिंदुओं में समझा जा सकता है।

- पहला, मुखिया ग्रामसभा और योजना-निर्धारण के बीच सेतु है। मनरेगा में ग्रामसभा की प्राथमिकता सर्वोपरि है, लेकिन ग्रामसभा को सक्रिय करने का व्यावहारिक दायित्व पंचायत नेतृत्व पर आता है।
- दूसरा, मुखिया रोजगार अधिकार को ग्रामीणों तक पहुँचाने वाला स्थानीय प्रतिनिधि है। कई ग्रामीणों को आवेदन, जॉब कार्ड, work demand और payment tracking की जानकारी नहीं होती। ऐसे में मुखिया और पंचायत कर्मियों की सक्रियता योजना की पहुँच बढ़ाती है।
- तीसरा, मुखिया कार्यों की गुणवत्ता और उपयोगिता को प्रभावित करता है। पईन सफाई, plantation, सड़क और प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण convergence जैसे कार्य तभी सफल होते हैं जब वे वास्तविक आवश्यकता पर आधारित हों।
- चौथा, मुखिया पारदर्शिता का स्रोत भी हो सकता है और बाधा भी। यदि वह records, muster roll और कार्य-सूचना सार्वजनिक करता है, तो सामाजिक अंकेक्षण मजबूत होता है। यदि वह जानकारी सीमित रखता है, तो योजना में अनियमितता की आशंका बढ़ती है।
- पाँचवाँ, मनरेगा में महिला और कमजोर वर्ग की भागीदारी बढ़ाने में मुखिया की भूमिका निर्णायक है। ग्राम पंचायत को विशेष समूहों और कमजोर वर्गों तक योजना पहुँचाने की स्थानीय क्षमता विकसित करनी चाहिए।

चुनौतियाँ-

दाउदपुर जैसे पंचायत स्तर पर मनरेगा के कार्यान्वयन में कई चुनौतियाँ हो सकती हैं।

1. ग्रामसभा की कम भागीदारी।
2. काम की मांग दर्ज कराने में जानकारी की कमी।
3. मजदूरी भुगतान में तकनीकी देरी।
4. पंचायत प्रतिनिधि, रोजगार सेवक और प्रखंड कार्यालय के बीच समन्वय की कमी।
5. सामाजिक अंकेक्षण का औपचारिक हो जाना।
6. कार्यों का राजनीतिक या जातीय आधार पर चयन।
7. परिसंपत्ति रखरखाव की कमजोर व्यवस्था।

सुझाव-

दाउदपुर पंचायत में मनरेगा को अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं।

1. हर वार्ड में काम मांग शिविर लगाया जाए।
2. ग्रामसभा की सूचना सार्वजनिक स्थानों, स्कूल, आंगनबाड़ी और पंचायत भवन पर लगाई जाए।

3. सभी स्वीकृत कार्यों की सूची, लागत, मजदूरों के नाम और भुगतान स्थिति पंचायत भवन पर प्रदर्शित हो।
4. महिला श्रमिकों और कमजोर वर्गों के लिए अलग जागरूकता बैठक हो।
5. पईन, नहर, तालाब और plantation जैसे कार्यों की post-completion monitoring हो।
6. social audit को वास्तविक ग्रामसभा से जोड़ा जाए, केवल कागजी प्रक्रिया न बनाया जाए।
7. पंचायत स्तर पर एक MGNREGA help desk बनाया जाए।
8. मुखिया, वार्ड सदस्य, पंचायत सचिव और रोजगार सेवक को MIS/payment tracking का प्रशिक्षण दिया जाए।

निष्कर्ष-

मनरेगा और पंचायती राज व्यवस्था का संबंध भारतीय ग्रामीण लोकतंत्र की आत्मा से जुड़ा हुआ है। मनरेगा ग्रामीण गरीब को रोजगार का अधिकार देता है और पंचायती राज व्यवस्था उस अधिकार को स्थानीय स्तर पर लागू करने का माध्यम बनती है। दाउदपुर पंचायत के संदर्भ में मुखिया की भूमिका केवल निर्वाचित प्रतिनिधि की नहीं, बल्कि योजनाकार, समन्वयक, निगरानीकर्ता, पारदर्शिता-संरक्षक और सामाजिक न्याय के स्थानीय वाहक की है। दाउदपुर पंचायत में सफाई, वृक्षारोपण, ग्रामीण संपर्क और प्रधानमंत्री आवास योजना-ग्रामीण से जुड़े कार्यों के उदाहरण यह संकेत देते हैं कि मनरेगा स्थानीय जरूरतों के अनुरूप उपयोगी परिसंपत्तियाँ बना सकता है। लेकिन इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि ग्रामसभा कितनी सक्रिय है, मुखिया कितना पारदर्शी है, श्रमिकों को काम और भुगतान समय पर मिल रहा है या नहीं, और सामाजिक अंकेक्षण कितना वास्तविक है। दाउदपुर पंचायत में मनरेगा का प्रभावी क्रियान्वयन मुखिया की सक्रिय, उत्तरदायी और सहभागी भूमिका पर निर्भर करता है। यदि मुखिया ग्रामसभा को मजबूत करे, श्रमिकों को अधिकारों की जानकारी दे, कार्यों की गुणवत्ता पर ध्यान दे और भुगतान/पारदर्शिता के मुद्दों पर जवाबदेही बनाए, तो मनरेगा केवल मजदूरी योजना नहीं रह जाएगी, बल्कि ग्राम स्वराज और स्थानीय विकास का शक्तिशाली माध्यम बन सकती है।

[1] दाउदपुर ग्राम पंचायत. (n.d.). *प्रवासी अभिलेख, जॉब कार्ड रजिस्टर, ग्रामसभा कार्यवृत्त एवं सामाजिक अंकेक्षण रिपोर्ट* (pp.23-25).

[2] दाउदपुर ग्राम पंचायत (n.d.). *प्रवासी अभिलेख, जॉब कार्ड रजिस्टर, ग्रामसभा कार्यवृत्त एवं सामाजिक अंकेक्षण रिपोर्ट.*

[3] कुमार, अशोक. (2017). ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका. *जर्नल ऑफ़ रूरल डेवलपमेंट, 36*(2), पृष्ठ 215–230.

[4] चक्रवर्ती, पिनाकी. (2013). मनरेगा (MGNREGA) का कार्यान्वयन और पंचायती राज संस्थाओं की भूमिका. *इंडियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, 59*(3), पृष्ठ 535–548.

[5] बिहार सरकार. (2023). *बिहार पंचायती राज अधिनियम और नियम.* पंचायती राज विभाग.

[6] बिहार सरकार. (2022). *मनरेगा (MGNREGA) बिहार राज्य रिपोर्ट.* ग्रामीण विकास विभाग.

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- बिहार सरकार. (2023). *बिहार पंचायती राज अधिनियम और नियम*. पंचायती राज विभाग, बिहार सरकार.
- ग्रामीण विकास मंत्रालय. (2023). *मनरेगा (MGNREGA) संचालन दिशानिर्देश*. भारत सरकार.
- ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार. (n.d.). *MGNREGA ऑपरेशनल गाइडलाइंस पर अक्सर पूछे जाने वाले सवाल (FAQs)*.
- ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार. (n.d.). *महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (MGNREGA) का आधिकारिक पोर्टल*.
- ज़िला प्रशासन सारण. (n.d.). *पंचायतें और वार्डों की संख्या*.
- पंचायती राज मंत्रालय. (2022). *वार्षिक रिपोर्ट 2021–22*. भारत सरकार.
- पंचायती राज मंत्रालय, भारत सरकार. (n.d.). *बिहार पंचायती राज अधिनियम, 2006*.
- भारत सरकार. (2005). *महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, 2005*. ग्रामीण विकास मंत्रालय.
- भारत सरकार. (2025). *MGNREGA मज़दूरी दर अधिसूचना (वित्त वर्ष 2025–26)*.
- मनरेगा प्रबंधन सूचना प्रणाली. (n.d.). *दाउदपुर पंचायत, मांझी ब्लॉक, सारण ज़िला: काम/संपत्ति/मस्टर रोल की रिपोर्ट*.

Manuscript Timeline
Submitted : *March 11, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

भोजपुरी में विशेषण पद

प्रो. अनिल कुमार पाण्डेय[1]

सारांश

प्र*स्तुत अध्ययन में भोजपुरी भाषा के विशेषणों की पद-संरचना एवं रूप-संरचना का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि भोजपुरी में विशेषण केवल संज्ञा की विशेषता व्यक्त करने तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे लिंग, वचन, तिर्यकता, बलाघात तथा अर्थगत भेदों के अनुसार विविध रूपात्मक परिवर्तनों से भी गुजरते हैं। गुण, रंग, परिमाण, संख्या, क्रम, दिशा, समय, सार्वनामिक तथा आवृत्तिवाची विशेषणों के वर्गीकरण के साथ-साथ उनके रूप-निर्माण में प्रयुक्त प्रत्ययों—जैसे का, की, के, को, कन, कने, कनो आदि—का व्यवस्थित विवेचन किया गया है। अध्ययन यह भी दर्शाता है कि भोजपुरी में विशेषणों के रूप-निर्माण के दौरान ह्रस्वीकरण, द्वित्व, लोप, आगम तथा संरूपता जैसी रूपस्वनिमिक प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती हैं। विशेषणों के विभिन्न रूपों के माध्यम से लिंग, संख्या, बहुवचन, 'ही' तथा 'भी' जैसे व्याकरणिक और अर्थगत संकेत व्यक्त किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोक-प्रयोग आधारित रूप भी मिलते हैं, जो भोजपुरी की जीवंत लोकभाषिक प्रकृति को प्रतिबिंबित करते हैं। इस प्रकार यह अध्ययन भोजपुरी विशेषण-व्यवस्था की संरचनात्मक विशेषताओं तथा उसकी रूपात्मक समृद्धि को समझने में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।*

मुख्य शब्द: *भोजपुरी भाषा, विशेषण, पद-संरचना, रूप-संरचना, रूपस्वनिमिक परिवर्तन, प्रत्यय-प्रक्रिया, शब्द-रचना।*

विशेषण शब्दों की पद संरचना-

विशेषण वे शब्द होते हैं, जो संज्ञा शब्दों की विशेषता बताते हैं। भोजपुरी में स्वरूप और प्रयोग की दृष्टि से विशेषण के कई भेद होते हैं-

1. गुणवाची विशेषण- नीमन, खराब, सुघर, बाउर आदि।
2. रंगवाची विशेषण- करिया, लाल, पीयर, हरियर, सफेद आदि।
3. परिमाणवाची विशेषण- एतना, ओतना, केतना, जेतना, पाभर, आधा किलो आदि।
4. संख्यावाची विशेषण- एक, दो, तीन, चार, पांच आदि।
5. क्रमवाची विशेषण- पहिला, दुसरा/दूसर, तीसरा/तीसर, चउथा आदि।
6. आकार/रूपवाची विशेषण- छोट, बड़, लमहर, नाखिचुकी आदि।
7. दिशावाची विशेषण- दहिना, बांया, निचिला आदि।

---
[1] प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)- 442001.

8. समयवाची विशेषण- नया, पुरान आदि।
9. सार्वनामिक विशेषण- ई, ऊ, एइसन, ओइसन आदि।
10. आवृत्तिवाची विशेषण- दुगुना, तिगुना आदि

पद रचना या रूप रचना की दृष्टि से विशेषण विकारी शब्द के अंतर्गत आता है। लगभग सभी योगात्मक भाषाओं में विशेषण शब्दों में विकार होता है। भोजपुरी में भी विशेषण शब्द विकारी होते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेषण शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यय जुड़ते हैं।

भोजपुरी में विशेषण शब्दों के विविध रूप तथा उनके निर्माण हेतु जुड़ने वाले विविध प्रकार के प्रत्यय को इस प्रकार से देख सकते हैं-

विशेषण + का, की, के प्रत्यय:-

भोजपुरी में सर्वाधिक संख्या में 'का' प्रत्यय के योग से विशेषण के रूप बनते हैं। 'का' 'के' लिंग और 'तिर्यकता' के आधार पर दो रूप हैं- 'की' तथा 'के' इन तीनों का प्रयोग करके भोजपुरी में विशेषण शब्दों के रूप बनाए जाते हैं, किंतु सभी विशेषण के साथ इनका समान रूप से प्रयोग नहीं होता। (इन प्रत्ययों का विशेषण के साथ योग होने पर 'वाला' का अर्थ आता है- जैसे- 'करिक्का कपड़ा = काला कपड़ा, ललकी टोपिया = लाल वाली टोपी आदि।) विशेषणों के साथ 'का/ के/ की' प्रत्यय योग संबंधी नियम इस प्रकार हैं-

नियम- (1):- विशेषण शब्दों के अंत में 'आ, ई, ऊ' नहीं होने पर शब्द में बिना किसी परिवर्तन 'का, की, के' प्रत्ययों का योग होता है-

- हरियर + का / की / के = हरियरका, हरियरकी, हरियरके
- दूसर + का / की / के = दूसरका, दूसरकी, दूसरके
- छोट + का / की / के = छोटका, छोटकी, छोटके
- बड़ + का / की / के = बड़का, बड़की, बड़के आदि।

नोट- यहाँ पर ध्यान रखने वाली बात है कि 'विशेषण + का' में 'का' प्रत्यय का मूल (पुल्लिंग, एकवचन) रूप है तथा 'की' इसका स्त्रीलिंग, एकवचन / बहुवचन रूप है, किंतु 'के' बहुवचन रूप नहीं है बल्कि यह 'का + ही रूप है, जैसे- दूसरका लइका के आवेदऽ। = दूसरे लड़के को आने दीजिए।

दूसरके लइका के आवेदऽ। = दूसरे लड़के को ही आने दीजिए।

नियम- (2):- इसी तरह से 'का, की, के' प्रत्यय वाले रूपों का '+भी' रूप भी बनता है, जहां या प्रत्यय 'को' बदल जाता है उदाहरण-

- दूसर + को = दूसरको
- छोट + को = छोटको

- बड़ + को = बड़को

वाक्य में प्रयोग- दुसरको लइकवा के बोलावऽ, छोटको आमवा आइल बा।

स्त्रीलिंग का रूप (विशेषण + की) का भी रूप बनता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यय का रूप 'कियो' हो जाता है उदाहरण-

- दूसर + कियो = दूसरकियो
- छोट + कियो = छोटकियो
- बड़ + कियो = बड़कियो

वाक्य में प्रयोग-

- दूसरकियो घइलिया ले लऽ।
- बड़कियो लमटेनिया जरा दऽ।

विशेषण 'का, की, के' का रूप बनाकर संज्ञा के रूप में प्रयोग करने की स्थिति में 'केवल एकारांत रूप' का प्रयोग भी देखा सकता है, जैसे-

दूसरे से काम करा लिहल जाव।
(दूसरे से ही काम करा लिया जाए)

एकारांत रूप के साथ संबंधित संज्ञा शब्द का भी प्रयोग हो सकता है, जैसे-

दूसरे आदमी के बोला लऽ।
(दूसरे आदमी को बुला लीजिए।)

स्त्रीलिंग रूप होने पर 'के, का, किए' हो जाता है जैसे-

दूसर + किए = दूसरकिए, छोट + किए = छोटकिए, बड़ + किए = बड़किए।
वाक्यों में प्रयोग- दूसरकिए गड़िया खराब बिया।, छोटकिए बुचिया गईल बिया।

<u>नियम- (3):-</u> 'का' का बहुवचन रूप 'वन' भी बनता है किंतु यह तिर्यक रूप बहुवचन है । हिन्दी में तिर्यक बहुवचन रूप –ओं होता है , जैसे – लड़कों , कपड़ों आदि| भोजपुरी में बहुवचन का प्रत्यक्ष रूप नहीं होता है | लईका का प्रत्यक्ष बहुवचन रूप लईका ही होगा |

बड़क + 'वन' = बड़कन

- छोटकन के पहिले खाए दऽ।
- बड़कन के नहाए के बा आदि।

'वन' के बाद उस पदबंध की शीर्ष संज्ञा का 'संज्ञा + वन' रूप भी आ सकता है, जैसे-

- छोटकन लइकवन के पहिले खाए दऽ।
- बड़कन अदमियन के नहा लेबे दऽ आदि।

जब संबंधित शीर्ष संज्ञा अपने बहुवचन रुप में उपस्थित रहती है, तो 'आ ' और 'वन' प्रत्यय परस्पर संरूप (Allomorph) की तरह कार्य करते हैं। अर्थात संबंधित विशेषण के साथ इन दोनों में से किसी भी प्रत्यय का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण-

- छोटकन लइकवन के पहिले खाए दऽ।
  (= छोटका लइकवन के पहिले खाए दऽ।)

नियम- (4):- 'का / की' रूप की तरह 'के ' प्रत्यय के भी '+ ही' और '+ भी' बनते हैं। उदहारण-

(+ ही रूप)

- दूसर +के = दूसरके
- छोट + के = छोटके
- बड़ + के = बड़के

वाक्य में प्रयोग-

- दूसरके लइकवन के बोला ल।
- छोटके के खिया दीहल जाव।

(+ भी रूप)

- दूसर + को = दूसरको
- छोट + को = छोटको
- बड़ + को = बड़को

वाक्य में प्रयोग-

- दूसरको लइकवन के बोला ल।
- छोटको के खिया दीहल जाव।

स्त्रीलिंग रूप में 'कने' का और कानों का 'कियने' और 'कनो' का 'कियनो' हो जाता है जैसे-

- छोट + कियनो = छोटकियनों
- बड़ + कियनो = बड़कियनों

सामान्यतः इन रूपों का प्रयोग होने पर संबंधित शीर्ष संज्ञा शब्द नहीं आता है जैसे-

- छोटकियनों के बोला लऽ।
- छोटकियनों लइकियनों के बोला लऽ।

नियम- (5):- 'आ, ई, ऊ' दीर्घ स्वर वाले विशेषण शब्दों में 'का, की, के' प्रत्यय का प्रयोग होने पर दीर्घ ह्रस्व क्रमशः 'अ, इ, उ' हो जाता है। शेष रूप निर्माण वैसे ही होता है, जिससे नियम-01 से नियम-04 तक बताया गया है।

उदाहरण-

- लाल + का / की / के = ललका, ललकी, ललके
- पीयर + का / की / के = पियरका, पियरकी, पियरके
- पहिला + का / की / के = पहिलका, पहिलकी, पहिलके
- फूहर + का / की / के = फूहरका, फूहरकी, फूहरके

यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि इन रूप परिवर्तनों में भी 'दीर्घ से ह्रस्व होना' रूपस्वनिमिक परिवर्तन (Morphophonemic Change) है । अतः यह मूल शब्द में कहीं भी (आरंभ, मध्य, अंत) घटित होता है। तीनों स्थितियों में परिवर्तन को दो दो उदहारण से पुनः देख सकते हैं-

(क) आरंभ स्थान ह्रस्वीकरण

- लाल + का / की / के = ललका, ललकी, ललके
- पीयर + का / की / के = पियरका, पियरकी, पियरके

(ख) मध्य स्थान ह्रस्वीकारण

- गहीर + का / की / के = गहिरका, गहिरकी, गहिरके
- पतील + का / की / के = पतिलका, पतिलकी, पतिलके

(ग) अंत स्थान ह्रस्वीकरण

- पहिला + का / की / के = पहिलका, पहिलकी, पहिलके
- नीला + का / की / के = निलका, निलकी, निलके

उक्त शब्दों के 'कन' रूप इस प्रकार से बनेंगे-

- लाल + कन / कने / कनो = ललकन, ललकने, ललकनो
- पीयर + कन / कने / कनो = पियरकन, पियरकने, पियरकनो
- गहीर + कन / कने / कनो = गहिरकन, गहिरकने, गहिरकनो
- पतील + कन / कने / कनो = पतिलकन, पतिलकने, पतिलकनो

- पहिला + कन / कने / कनो = पहिलकन, पहिलकने, पहिलकनो
- नीला + कन / कने / कनो = निलकन, निलकने, निलकनो

इनमें से कुछ का वाक्य में प्रयोग करते हुए आगे उदाहरण दिए जा रहे हैं-

- ललका फूलवा गिर गईल।
- पतिलके बंसवा लियावऽ।
- निलकन कपड़वन के एक ओर करऽ।
- पहिलकन लइकवन के मिठाई दे दऽ।

नोट- (1) 'कन' रूप के प्रयोग के लिए आवश्यक है कि संबंधित शीर्ष संज्ञा पद भी बहुवचन रूप में होगा। (2) 'कन' के तर्ज पर 'शब्द + किन' द्वारा विशेषण का स्त्रीलिंग बहुवचन रूप भी बनाया जाता है, लेकिन वह कम प्रचलन में है, जैसे-

- गहिरकिन कटोरियन में पानी बा।

इसकी जगह समान्य रूप से ही काम चल जाता है-

- गहिरकी कटोरियन में पानी बा।

नियम- (6):- करिया विशेषण 'का /की/ के' रूप में बनाने पर 'या' का लोप हो जाता है और 'क' का द्वित्व हो जाता है जैसे-

करिया + का / की / के = करिक्का, करिक्की, करिक्के

इसकी जगह 'नया' (नाया) शब्द में उक्त प्रत्ययों को जोड़ने पर केवल ह्रस्वीकरण ही होता है, जैसे-

नया + का / की / के = नयका, नयकी, नयके

'नया' विशेषण का / की / के रूप में बनाने पर 'य' का 'व' भी हो जाता है जैसे-

नया + का / की / के = नवका, नवकी, नवके

वाक्य में प्रयोग-

- नयकी कलमिया बहुत नीक बिया।
- नवकी पतोहिया बहुत नीक बिया।

नियम- (7):- परिमाणवाची विशेषणों में का / की / के के प्रत्ययों का योग नहीं होता, जैसे-

* एतना + का / की / = एतनका/ की / के

इसकी जगह उनके 'ई और ए' रूप बनते हैं। वे शब्द सामान्यतः अकारांत होते ही हैं, इसलिए उनका ['+ही रूप' बनाने पर + 'ए'] स्त्रीलिंग रूप बनाने पर '+ ई और 'ए'का प्रयोग होता है। उदाहरण-

- → एतना — एतना, एतनी एतने
- → केतना — केतना, केतनी, केतना
- → ओतना — ओतना, ओतनी, ओतने
- → जेतना — जेतना, जेतनी, जेतने
- → आधा — आधा, आधी, आधे

वाक्य में प्रयोग-

- ➢ एतना पानी मत डालऽ।
- ➢ जेतना पानी मिली, ओतने लियावऽ।
- ➢ आधी रोटी खइले बानी।

इन शब्दों का 'स्त्रीलिंग + ही रूप' भी बनता है। इनके लिए 'इए ' प्रत्यय का प्रयोग होता है-

- ➢ एतना + इए = एतनिए
- ➢ जेतना + इए = जेतनिए
- ➢ आधा + इए = अधिए

वाक्य में प्रयोग-

- ➢ एतनिए दाल बनल बा?
- ➢ जेतनिए होखे ओतनिए ले लऽ

नियम- (8):- संख्यावाची विशेषणों के साथ गिनती की पूर्णता दर्शाने के लिए 'गो' प्रत्यय (या प्रत्ययात्मक परसर्ग) का प्रयोग किया जाता है जैसे-

तीन गो आम बचल बा।
दस गो गोंइठी से काम हो जाई।
सौ गो रूपिया बचल बा।

एक के साथ 'गो' का प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार सौ से अधिक होने की स्थिति में जब पूरी संख्या आती है, तभी 'गो' का प्रयोग किया जाता है। सौ के गुणांक के साथ इसका प्रयोग नहीं होता। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रयोग ठीक हैं-

- ➢ 110 गो
- ➢ 250 गो

- 1380 गो

किंतु ये प्रयोग ठीक नहीं हैं-

- 200 गो
- 1000 गो
- एक लाख गो

नियम- (9):- संपूर्ण समूह का बोध कराने के लिए 'एक' के अलावा अन्य सभी संख्यावाची विशेषणों के साथ 'ओ' प्रत्यय का प्रयोग होता है, जैसे-

- चार - चारों
- तीन – तीनों
- पचास - पचासों

'दू' के साथ 'ओ' का भी प्रयोग होने पर 'न' आगम हो जाता है, जैसे-

दू + ओ = दूनों

नियम- (10):- सौ, हजार, लाख आदि का अनिश्चित सामूहिकता में बोध कराने के लिए 'ओ' और 'अन' दोनों का प्रयोग होता है, जैसे-

- सैकड़न आदमी आईल बाड़न।
- हजारों आदमी का भीड़ बा।
- लाखन आदमी बेमार बाड़न।

नियम- (11):- संख्यावाची विशेषणों ओं के साथ '+ही' बनने वाले रूपों संबंधी स्थितियाँ इस प्रकार हैं-

(क) एक के साथ 'ही' और 'हू' का प्रयोग किया जाता है, जैसे-

- हमार एकही लइका बा। (एक ही)
- इहाँ एकहू लइके नइखनसऽ। (एक भी)

(ख) 'द' के साथ 'ई गो' और 'इयो गो' का प्रयोग होता है, जैसे-

- खंचिया में दुई गो आम बा। (दो ही)
- खंचिया में दूइयो गो आम नइखे। (दो भी)

'दू' के साथ '+ही' का बोध कराने के लिए 'इए गो' का भी प्रयोग होता है, जैसे-

- खंचिया में दुइए गो आम बा। (दो ही)

(ग) शेष सभी संख्याओं के साथ 'ए गो' और 'ओ गो' का प्रयोग होता है, जैसे-

- दसे गो रूपिया बचल बा। (दस ही)
- पांचों गो आदमी नइखन। (पांच भी)
- दसे गो से काम ना होई। (दस ही)
- सवे गो रूपिया माँग लऽ। (सौ ही)

(घ) संख्याओं की क्रमिक पुनरुक्ति होने की स्थिति में केवल पहली संख्या का ही रूप परिवर्तन होता है, दूसरी का नहीं, जैसे-

- तीनें – चार गो लइका बाड़नसऽ। (तीन – चार ही)
- तीनों –चार गो लइका से काम हो जाई। (तीन – चार भी)

नियम- (12):- क्रमवाची संख्याओं के साथ 'पहिला से चउथा' तक 'का / की / के / को' कियो का प्रयोग होता है, जिसमें 'के = + ही रूप', 'को = +भी रूप' तथा की = स्त्रीलिंग रूप है। यथा-

- पहिलका + का / की / के / को = पहिलका, पहिलकी, पहिलके, पहिलको
- दूसर + का / की / के / को = दूसरका, दूसरकी, दूसरके, दूसरको
- तीसर + का / की / के / को = तीसरका, तीसरकी, तीसरके, तीसरको
- चौथा + का / की / के / को = चउथका, चउथकी, चउथके, चउथको

वाक्य में प्रयोग-

- पहिलका अदमी मेहनती बा।
- अब दूसरकी लइकी के बोलावऽ।
- तिसरके अमवा तोर दऽ।
- चउथको घरवा रंगा गइल।
- चउथकियो घड़िया टूट गइल।

इनसे ऊपर के क्रमसूचक विशेषण शब्दों के साथ- वाँ / वीं / वें / वों का प्रयोग होता है, जैसे-

- पाँच + वाँ / वीं / वें / वों = पचवाँ, पचवीं, पचवें, पचवों
- दस + वाँ / वीं / वें / वों = दसवाँ, दसवीं, दसवें, दसवों

वाक्य में प्रयोग-

प्रश्न- तू त पचवाँ पास हो गइल बाड़ऽ नऽ ?
उत्तर- बहुत पहिले। अब त दसवों पास हईं।

हमार लइका जिला में 7वें नम्मर प आइलबा।

नियम- (13):- दहिना, बायाँ दिशाबोधक शब्दों के रूप इस पर प्रकार इस प्रकार बनते हैं-

दहिना- दहिने, दहिनी, दहिनो, दहिनियों

बायाँ- बाएँ, बाईं।

वाक्य में प्रयोग-

- तनि से दहिने सेट करऽ।
- दहिनो ओरिया क ठीक कर दऽ।
- बाईं ओरिया लटकल बा।

नियम- (14):- तिर्यक सार्वनामिक विशेषणों के '+ही रूप' और '+भी रूप' इस प्रकार से बनते हैं-

अइसन = अइसने, अइसनों

ओइसन = ओइसने, ओइसनों

वाक्य में प्रयोग-

- अइसने लइका खोजऽ जेवन लायक होखे।
- ओइसनों लइकी से काम हो जाई।

'+ वाला' का बोध कराने के लिए 'का / की / के / किए / कियो' रूपों का प्रयोग भी हो जाता है, जैसे-

- अइसनके डिबवा उठा लियावऽ।
- ओइसनको मिठाई आवे दऽ।
- ओइसनकियो बाल्टिया चूवते बा।

नियम- (15):- आवृत्तिवाची सर्वनामों के भी '+ही रूप' और '+भी रूप' बनते हैं भोजपुरी में आवृत्तिसूचकता के लिए 'संख्या + गुना (गुन्ना)' का प्रयोग होता है। रूप निर्माण होने पर 'गुना (गुन्ना)' का 'एकारांत और ओकारांत' हो जाता है जैसे-

दुगुना (दुगुन्ना) = दुगुने (दुगुन्ने), दुगुनो (दुगुन्नो)

तीनगुन्ना = तीनगुन्ने, तीनगुन्नो

वाक्य में प्रयोग-

- दस साल में हमार पइसा दुगुन्ने भइल बा।
- पइसा त तीनगुन्नो हो जाला।
- तू एकर दसगुन्नों देबऽ तबो ना देईब।

नियम- (16):- भोजपुरी मूलतः एक लोक भाषा है। इस कारण इसमें कुछ शब्दों के लोक प्रयोग आधारित रूप भी बनते हैं। ये मूलतः शब्दार्थ आधारित प्रयोग के कारण निर्मित होते हैं। इस कारण इन्हें रूपिमिक नियमों में बांधने के बजाय शब्दशः देखना पड़ता है। कुछ विशेषणों के साथ भी ऐसे रूपों का निर्माण देखा जा सकता है, यथा-

(क) लमहर, पातर विशेषणों में 'लगभग' का बोध कराने के लिए 'आह' का प्रयोग होता है जैसे-

लमहर – लमराह

पातर – पतराह

वाक्य में प्रयोग-

- तनि एगो लमराह डंटा लियावऽ।
- एइसन पतराह कील से काम ना होई।

(ख) इनके भी '+ ही रूप' और +भी रूप' बनते हैं, जैसे-

ई रस्तवा त लमराहे पड़ी। (लंबा ही)

किरवा लमहर त रहबे करुए, पतराहो रहुए। (पतला भी)

(ग) 'छोट'विशेषण में 'नन्हा' का भाव जोड़ने के लिए कहीं-कहीं 'छोटकुनिए' रूप का भी प्रयोग किया जाता है, जैसे-

लइकी त छोटकुनिए रहुए, लेकिन बड़ा चंचल रहुए।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- चौधरी, हरिशंकर (1998). *भोजपुरी बोली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन*. भारती प्रकाशन.
- तिवारी, उदय नारायण. (1960). *भोजपुरी भाषा और साहित्य का इतिहास*. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय.
- दुबे, ओ.पी. (2007). *पूर्वाञ्चल की लोक भाषाएं : भोजपुरी की ध्वन्यात्मक दृष्टि विवेचना*. साहित्य विमर्श प्रकाशन.
- पाण्डेय, शिवबहादुर. (1995.) *भोजपुरी की बोलियाँ और उनकी ध्वनि विशेषताएं*. जनशक्ति प्रकाशन.
- मिश्र, रामआसरे. (1979). *भोजपुरी का स्वरूप*. गंगा पुस्तकालय.
- मिश्र, रामजी. (1992). *भोजपुरी व्याकरण*. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद.
- यादव, रामकुमार. (2000). *भोजपुरी की ध्वनि संरचना*. विश्व पुस्तक भंडार.

- शर्मा, देवकीनंदन. (1990). *भारतीय आर्यभाषाएं और भोजपुरी की ध्वनि व्यवस्था.* राजकमल प्रकाशन.
- सिंह, अरुण कुमार. (2003). *भोजपुरी भाषा : ध्वनि और रूपविज्ञान.* ज्ञानदीप प्रकाशन.
- सिंह, बी.पी. (1985). *भोजपुरी भाषा का वर्णनात्मक अध्ययन.* नागरी प्रचारिणी सभा.

Manuscript Timeline
Submitted : *March 11, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

भारत-बांग्लादेश (वर्ष 2009-2019 तक) भू-राजनीतिक संबंध : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

जय कान्त यादव[1]

सारांश

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का संवर्धन एवं अभिव्यक्ति करते हैं। यह प्रक्रिया केवल एक समय की न होकर निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया का प्रकटीकरण राज्यों की विदेश नीतियों के माध्यम से होता है। अत: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विदेशी नीतियों का आकलन एक अभिन्न अंग बन गया है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की इन विदेश नीतियों के स्वरूप से ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में भी बदलाव आता है। किसी भी क्षेत्र का भूगोल उस क्षेत्र के राष्ट्रों के आपसी संबंध व उनके बीच के राजनीतिक संबंधों को प्रभावित करता है। इसी संदर्भ में, दक्षिण एशिया का क्षेत्र कई कारणों से विश्व का सर्वाधिक संवेदनशील क्षेत्र रहा है, इस क्षेत्र के उत्तर में हिमालय पर्वत श्रेणी स्थित है जो की दक्षिण एशिया क्षेत्र को एशिया के अन्य क्षेत्रों से अलग करती है। इस पर्वतमाला की गोद में एक छोटा राष्ट्र भूटान अवस्थित है। यह राष्ट्र अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण सामरिक दृष्टि से काफी महत्व वाला राष्ट्र हैं। दक्षिण एशिया क्षेत्र की भू-राजनीति से बांग्लादेश की सामरिक महत्व के कारण उनकी भूमिका अतुलनीय रही है। चीन की दक्षिण एशिया में भू-राजनीतिक कूटनीति उपस्थिति के कारण भारत-बांग्लादेश के द्विपक्षीय सामरिक संबंधों को प्रभावित करने संबंधी तथ्यों को विश्लेषित करता है। प्रस्तुत शोध में प्राथमिक तथा द्वितीयक आकड़ों का प्रयोग किया जायेगा। इस अध्ययन की भूमिका, उपयोगिता और प्रासंगिकता हेतू नवीन अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने हेतु विश्लेषणात्मक (Analytical) अनुसन्धान प्रयोग किया गया है।

मुख्य शब्द: *भारत-बांग्लादेश ऐतिहासिक संबंध, सामरिक संबंध, लोकतांत्रिक बदलाव, भू-राजनीतिक संबंध।*

भारत-बांग्लादेश ऐतिहासिक संबंध-

भारत और बांग्लादेश के साथ 4,096 किलोमीटर विस्तृत सीमा साझा करता है, जो दुनिया में पांचवीं सबसे लंबी सीमा है। भारत के असम, पश्चिम बंगाल, मिजोरम, मेघालय और त्रिपुरा राज्यों की सीमा बांग्लादेश से संबद्ध है। यह भारत की सुरक्षा और विदेश नीति के लिए महत्वपूर्ण है। भारत को चीन की 'स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स' नीति का प्रतिस्पर्धा करने के लिए बांग्लादेश से सहयोग की आवश्यकता है। बांग्लादेश दक्षिण एशिया एवं दक्षिण पूर्व एशिया के चौराहे पर स्थित है और भारत की एक्ट ईस्ट नीति के लिए महत्वपूर्ण है, जिसका उद्देश्य

[1] पी-एच.डी., राजनीति विज्ञान, श्यामा प्रसाद मुखर्जी राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज (उ. प्र.); **ईमेल :** jaibhu1992@gmail.com

दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के साथ घनिष्ठ संबंध बनाना है। बांग्लादेश दक्षिण एशिया में भारत का सबसे बड़ा व्यापार साझेदार है और भारत एशिया में बांग्लादेश का दूसरा सबसे बड़ा व्यापार साझेदार है।[i] वित्त वर्ष 2023-24 में भारत- बांग्लादेश के बीच कुल द्विपक्षीय व्यापार 14.01 बिलियन अमरीकी डॉलर था। भारत और बांग्लादेश का इतिहास, संस्कृति और विरासत साझा है। दोनों देशों के लोग मजबूत सांस्कृतिक और पारिवारिक संबंधों से जुड़े हुए हैं और बांग्लादेश में भारतीय मूल के लोगों की एक बड़ी आबादी रहती है। दोनों देश सीमा पार की नदियों और पारिस्थितिक तंत्रों को साझा करते हैं, जिससे जल प्रबंधन व बाढ़ नियंत्रण जैसे; मुद्दों पर सहयोग महत्वपूर्ण हो जाता है। दक्षिण एशिया में भारत-बांग्लादेश के सम्बन्धों की शुरूआत वर्ष 1971 से होती है। जब बांग्लादेश एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विश्व में अस्तित्व में आया।

दोनों देशों के मध्य बहु-आयामी सम्बन्ध तथा विभिन्न स्तरों के राजनीतिक क्रिया-कलापों के सम्बन्ध जुड़े हुए है। राष्ट्रहित की पूर्ति हेतु विभिन्न नीतियों जैसे आदान-प्रदान, यात्राएँ, बैठकों इत्यादि नियमित रूप से आयोजित होती रहती हैं। जिसके द्वारा दोनों देशों के मध्य द्विपक्षीय परियोजनायें जैसे बांग्लादेश में स्थित भारतीय मिशन योजना, वीजा व्यवस्था, छात्रवृत्ति योजना, स्वास्थ्य सम्बन्धित अस्पतालों की व्यवस्था, चिकित्सा इत्यादि विद्यमान है। भारत-बांग्लादेश वर्तमान में राजकीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण बहुपक्षीय कार्य सम्पन्न हो रहे हैं और भविष्य के लिए मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध अग्रसर है।[ii]

भारत व बांग्लादेश के बीच हाल के कुछ वर्षों में विवाद का एक कारण बांग्लादेश व चीन के बीच बेहतर होते संबंधों से भारतीय हितों के प्रभावित होने के खतरे को लेकर भी उभरा है। ध्यातव्य है कि बांग्लादेश भारत और चीन के बीच में अवस्थति है इसलिये भारत के लिये उसका सामरिक महत्त्व बहुत ज्यादा है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत ने बांग्लादेश को 'लुक ईस्ट पॉलिसी' और उसके बाद शुरू की गई 'एक्ट ईस्ट पॉलिसी' के केंद्र में रखा है।[iii] किंतु भारत को घेरने की 'स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स' की अपनी नीति का अनुसरण करते हुए चीन बांग्लादेश को सदैव अपने प्रभाव में लेने का प्रयास करता रहा है जिसमें एक हद तक वह सफल भी रहा है। उसको सफलता इस रूप में मिली है कि भारत द्वारा विरोध किये जाने के बाद भी बांग्लादेश चीन की महत्त्वाकांक्षी बी.आर.आई. परियोजना से जुड़ गया। दोनों देशों के मध्य होने वाले आपसी व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। इसके अतिरिक्त, चीन बांग्लादेश को कई ढाँचागत परियोजनाओं को पूरा करने हेतु सस्ते ऋण के रूप में वित्तीय मदद भी प्रदान करा रहा है।

भारत और बांग्लादेश सांस्कृतिक संबंध 2009-2019 तक-

भारत और बांग्लादेश के बीच विलक्षण एवं विशेष संबंध हैं। हम साझी सांस्कृतिक विरासत, साझे सिद्धांतों एवं मूल्यों तथा बेहतर भविष्य की आशाओं से बंधे हुए हैं। इस संबंध का निर्माण हमारी साझी आकांक्षाओं और बलिदानों के आधार पर हुआ है। भारत अपने बीच विद्यमान ऐतिहासिक सम्बन्धों को और सुदृढ़ बनाना चाहता है और साथ ही भारत इसे भविष्य का ऐसा विज़न देना चाहते हैं जो स्थायी और सतत हो। हाल के वर्षों में उच्चस्तरीय यात्राओं के आदान-प्रदान से द्विपक्षीय सम्बन्धों को नई गतिशीलता मिली है। प्रगतिशील एवं व्यावहारिक नजरिए पर आधारित भारतीय सम्बन्धों ने नए दौर में प्रवेश कर लिया है जो संप्रभुता,

समानता, मैत्री, आस्था एवं विश्वास के प्रति हमारी पारस्परिक वचनबद्धता की पुष्टि करते हैं। यह वचनबद्धता भारत तथा बांग्लादेश के लोगों के पारस्परिक लाभ के लिए है और इस क्षेत्र की सामूहिक समृद्धि के लिए उपयोगी है।

भारत और बांग्लादेश राजनीतिक संबंध 2009-2019 तक :

वर्ष 2009-वर्तमान एक पार्टी के प्रभुत्व का दौर-

भारत और बांग्लादेश संबंधों का चौथा चरण 2009 में अवामी लीग की वापसी और 2014 और 2019 में इसकी लगातार जीत के साथ शुरू हुआ। तब से, भारत-बांग्लादेश संबंधों में लगातार सुधार हुआ है। इस चरण में, दोनों देश पड़ोसी से विकास और आर्थिक विकास में भागीदार बन गए हैं। भारत में यूपीए-2 सरकार के दौरान दोनों देशों के बीच भूमि सीमा समझौते और 'तीस्ता जल बंटवारे' पर सहमति बनी थी। हालांकि, पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी की आपत्ति के कारण यह समझौता मूर्त रूप नहीं ले सका। बांग्लादेश ने सुरक्षा मुद्दों से निपटने और आतंकवादी समूहों और उग्रवाद से निपटने में भारत के साथ समन्वय किया। वर्ष 2013 में, एक प्रत्यर्पण संधि पर हस्ताक्षर किए गए और बांग्लादेश ने कई आतंकवादियों को भारत वापस भेज दिया।

वर्ष 2015 में दोनों देशों के बीच भूमि सीमा समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिससे दोनों देशों के बीच संबंध और मजबूत हुए। इस समझौते ने दोनों देशों के बीच भूमि सीमा सीमांकन के विवादास्पद मुद्दे को सुलझाया, जो वर्षों से लंबित था।

रैडक्लिफ आयोग के अनुसार, भारत के पास बांग्लादेश की तरफ 111 एन्क्लेव (15,000 हेक्टेयर) थे, जबकि बांग्लादेश के पास भारत की तरफ 55 एन्क्लेव (7,000 हेक्टेयर) थे। इस मुद्दे को 100वें संविधान संशोधन (2015) द्वारा सुलझाया गया।[iv] दोनों तरफ़ से कॉन्क्लेव का आदान-प्रदान किया गया। नागरिकों को अपनी राष्ट्रीयता बनाए रखने या नई नागरिकता प्राप्त करने का विकल्प दिया गया। पिछले कुछ दशकों में दोनों पड़ोसियों के बीच विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग बढ़ा है। इसमें व्यापार से लेकर रणनीतिक साझेदारी, कनेक्टिविटी और ऊर्जा आपूर्ति तक शामिल हैं।

एस जयशंकर "हाल ही में एक साक्षात्कार में, विदेश मंत्री एस जयशंकर ने भारत-बांग्लादेश संबंधों को भारतीय उपमहाद्वीप में "आदर्श संबंध" करार दिया। "सभी संबंध स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक नींव पर स्थापित होते हैं। हमारे दोनों देशों के बीच संबंध कई मायनों में पचास साल पहले खून से बने बंधनों की निरंतरता हैं।" सी राजमोहन सी. राजामोहन का मानना है कि द्विपक्षीय संबंधों की पूरी क्षमता का उपयोग करने के लिए दोनों देशों को अपने संबंधों को निरंतर बेहतर बनाने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि पहली चुनौती मजबूत राज्य-कमजोर राज्य की विषमता है। इस परिदृश्य में, दिल्ली को अधिक सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए और बांग्लादेश से जुड़ना चाहिए। इस बीच, 'प्रबुद्ध स्वार्थ' को ध्यान में रखते हुए, बांग्लादेश को यह समझना चाहिए कि भारत के साथ अच्छे संबंध बांग्लादेश के लिए भी उतने ही फायदेमंद हैं, जितने भारत के लिए। भौगोलिक

कारक को ध्यान में रखते हुए, दोनों देशों को सीमा और पारगमन अधिकारों को रेखांकित करने के लिए तालमेल से काम करना चाहिए। "भारत और बांग्लादेश ने आम तौर पर भूगोल के तर्क के खिलाफ काम किया है। भूगोल स्वाभाविक रूप से उन्हें एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के लिए मजबूर करता है।"

वर्ष 2009 से बांग्लादेश पर शासन करने वाली प्रधानमंत्री शेख हसीना के नेतृत्व वाली अवामी लीग (AL) पूरे बांग्लादेश में अपना प्रभुत्त्व बनाए हुए है। भारत और बांग्लादेश के मजबूत संबंध विकास एवं प्रगति में सहयोग पर आधारित हैं। पूर्वी सीमा पर सक्रिय आतंकवादी और उग्रवादी समूहों से निपटने के लिए भारत ने जो सक्रिय कार्यवाही की, इससे सुरक्षा संबंधी चुनौतियों का काफी हद तक समाधान हुआ है। इसने बांग्लादेश में सक्रिय नृजातीय विद्रोही समूहों (Ethnic Insurgent Groups) के खिलाफ कार्रवाई की जो भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में अस्थिरता को बढ़ाने में शामिल रहते हैं।[v] वर्ष 2013 में भारत ने आतंकवादियों के प्रत्यर्पण के लिए बांग्लादेश के साथ एक प्रत्यर्पण संधि पर हस्ताक्षर किए थे। इसके बाद बांग्लादेश ने अलगाववादी समूह यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट ऑफ असम (United Liberation Front of Asom-ULFA) के प्रमुख नेताओं को भारत को सौंप दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य भारत से पृथक एक स्वतंत्र असम की स्थापना करना था। बांग्लादेश ने उन भारत-विरोधी उग्रवादी समूहों की गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित किया है जो वहाँ प्रशिक्षण शिविर संचालित करते थे और बांग्लादेशी क्षेत्र के मार्गों के माध्यम से हथियारों का परिवहन करते थे।

भारत-बांग्लादेश संबंधों पर भू-राजनीतिक प्रभाव-

यह समस्या जटिल है, क्योंकि इस मामले में एक भारतीय राज्य भी शामिल है। लेकिन भारत के अपने हितों के लिए इसे जल्द से जल्द सुलझाया जाना चाहिए। इसके पीछे कई कारण हैं। सबसे पहले, इस क्षेत्र में भारतीय विदेश नीति को भारत के साथ गहन सहयोग के लिए द्विदलीय समर्थन हासिल करने में सीमित सफलता मिली है। अपने अधिकांश निकटतम पड़ोसियों के साथ भारत के संबंध पार्टी या व्यक्ति-उन्मुख रहे हैं। एक बार जब कई पड़ोसी देशों में सत्ता पलट जाती है, तो उसके बाद इन देशों के साथ भारत के संबंधों में उल्लेखनीय परिवर्तन होते हैं। बांग्लादेश के मामले में, जब 2001 से 2006 तक बांग्लादेश में बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी की सरकार थी, तब भारत ने पूर्वोत्तर में उग्रवाद में वृद्धि देखी थी।[vi] वर्ष 2009 के बाद अवामी लीग सरकार के लगातार समर्थन और सहयोग के कारण ही इसे नियंत्रित किया जा सका। बीएनपी का लगातार पाकिस्तान और चीन समर्थक रुख रहा है - यह नीति जनरल जियाउर रहमान के समय से जारी है और इसने वर्षों से अपने चुनाव अभियानों के प्रमुख भाग के रूप में भारत विरोधी बयानबाजी का इस्तेमाल किया है। ऐसे में, एक आसन्न मुद्दा जो सीधे पड़ोसी देश की आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से को प्रभावित करता है, बांग्लादेश में शक्ति संतुलन के बदलाव की स्थिति में भारत के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है। इसका पूर्वोत्तर भारत की सुरक्षा स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

जहां तक इस क्षेत्र में चीनी भागीदारी का सवाल है, बांग्लादेश दक्षिण एशिया में एक प्रमुख स्विंग राज्य बना हुआ है। चीनी राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने वर्ष 2016 में बांग्लादेश का दौरा किया और दोनों देशों ने लगभग 24 बिलियन अमरीकी डालर की लागत वाली विभिन्न बुनियादी ढांचा परियोजनाओं को पूर्ण करने

वाले 27 समझौतों पर हस्ताक्षर किए। चीन बांग्लादेश को सैन्य उपकरणों का प्रमुख आपूर्तिकर्ता भी रहा है, जिसने वर्ष 2000 से 2020 के बीच 2,886 मिलियन अमरीकी डालर के उपकरण बेचे हैं, जो कुल रक्षा आयात का 65 प्रतिशत है।[vii] जबकि बांग्लादेश बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (बीआरआई) के तहत विभिन्न परियोजनाओं के संदर्भ में चीन को शामिल कर रहा है, यह अभी भी सनोदिया बंदरगाह को रद्द करने और पायरा बंदरगाह के लिए भारत, चीन और बेल्जियम को शामिल करने वाले बहुपक्षीय दृष्टिकोण का पालन करने जैसी प्रमुख विकास परियोजनाओं के लिए अपने दृष्टिकोण में संतुलित रहा है। यह बदल सकता है अगर बीएनपी के नेतृत्व वाला विपक्ष भविष्य में बांग्लादेश सरकार पर पर्याप्त दबाव डालने और भारत विरोधी भावनाओं को रैली करने में सक्षम हो, अन्य चीजों के अलावा तीस्ता विवाद का उपयोग करके सत्ता हासिल करने के लिए, जिससे भारत-बांग्लादेश संबंधों में अब तक हुई प्रगति खतरे में पड़ जाए। इसलिए, तीस्ता महज एक सीमा पार जल विवाद नहीं है, बल्कि यह बांग्लादेश की घरेलू राजनीति और क्षेत्र में विकसित हो रही भू-राजनीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

भारत और बांग्लादेश आर्थिक संबंध 2009-2019 तक-

भारत-बांग्लादेश आर्थिक संबंधों को भविष्योन्मुखी साझेदारी के एक नए युग की ओर ले जाने की हमारी पारस्परिक इच्छा की पुष्टि करते हैं, जिसके लिए हम "विकसित भारत 2047" और "स्मार्ट बांग्लादेश विजन 2041" के अपने-अपने राष्ट्रीय विकास दृष्टिकोण को साकार करने में एक-दूसरे को अपरिहार्य भागीदार मानते हैं। तेजी से बढ़ती क्षमताओं के साथ एक करीबी और मूल्यवान पड़ोसी के रूप में, बांग्लादेश भारत की "पड़ोसी पहले" नीति, "एक्ट ईस्ट" नीति, सागर सिद्धांत और भारत-प्रशांत दृष्टिकोण के अभिसरण बिंदु पर है, और भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र के विकास में एक अपरिहार्य भागीदार है। दूसरी ओर, बांग्लादेश भारत के साथ अपने निकटतम और मैत्रीपूर्ण पड़ोसी के रूप में अपने संबंधों को महत्व देता है। बांग्लादेश साझा शांति और समृद्धि सुनिश्चित करने के लिए अपनी पड़ोस विदेश नीति की खोज में भारत को एक महत्वपूर्ण भागीदार मानता है।[viii]

बांग्लादेश दक्षिण एशिया में भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है, जिसका वार्षिक कारोबार लगभग 9 बिलियन डॉलर से अधिक है और अनुमानित अनौपचारिक व्यापार लगभग 8-9 बिलियन डॉलर है। बांग्लादेश में भारतीय निवेश 3 बिलियन डॉलर तक पहुँच गया है। भारत में बांग्लादेशी निर्यात के प्रवाह को सक्षम करने के लिए, दक्षिण एशियाई मुक्त व्यापार क्षेत्र के तहत वर्ष 2011 में 'ड्यूटी-फ्री एंट्री' दी गई थी।

भारत और बांग्लादेश सामरिक संबंध 2009-2019 तक-

बांग्लादेश दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ जुड़ने के लिए भारत की योजना है, साथ ही साथ भूमि से जुड़े पूर्वोत्तर को विकसित करने के लिए महत्वपूर्ण है। भारत की योजना दक्षिण एशियाई देशों के क्षेत्रीय सहयोग के लिए एक व्यावहारिक विकल्प बनाने की है, जिसने दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया को प्रभावित करते हुए बांग्लादेश पर कब्जा कर लिया है। भारत की पहली पड़ोस नीति ने बांग्लादेश पर ध्यान केंद्रित किया है, जो भारत की एक्ट ईस्ट पॉलिसी और BIMSTEC (बंगाल की खाड़ी में बहु-क्षेत्रीय तकनीकी और आर्थिक

सहयोग के लिए पहल) और BBIN (बांग्लादेश, भूटान, भारत व नेपाल) जैसी; उप-क्षेत्रीय समूहों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय व्यापार बांग्लादेश-चीन-भारत-म्यांमार (बी.सी.आई.एम.) आर्थिक गलियारा और बांग्लादेश-भूटान-भारत-नेपाल (बी.बी.आई.एन.) मोटर वाहन समझौते जैसी पहलों को शुरू करने के लिए प्राथमिक प्रोत्साहन रहा है। बांग्लादेश और भारत को प्रस्तावित पहलों जैसे (बी.बी.आई.एन. और बी.सी.आई.एम. आर्थिक गलियारे) को मूर्त रूप देने में अग्रणी भूमिका निभानी चाहिए।[ix] ये अधिक उत्पादकता के लिए अंतर-क्षेत्रीय और अंतर-क्षेत्रीय बाजारों के एकीकरण की सुविधा प्रदान करेंगे।

बांग्लादेश उत्तर में हिमालय की तराई और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी के बीच स्थित है। यह देश एकमात्र **'भौगोलिक रियल-एस्टेट'** है जो दक्षिण एशिया को दक्षिण पूर्व एशिया से जोड़ता है। नतीजतन, बांग्लादेश भारत की **'एक्ट ईस्ट' नीति** को संचालित करने के लिए एक महत्वपूर्ण देश है। बांग्लादेश के समर्थन से, दक्षिण पूर्व एशियाई उभरती अर्थव्यवस्थाओं के साथ भूमि आधारित संपर्क बढ़ाया जाता है। आज, बांग्लादेश भारत के रणनीतिक और चीन की रणनीतिक परिधि के बीच स्थित है।[x] देश की इस अनूठी भौगोलिक स्थिति के परिणामस्वरूप ढाका पर प्रभाव को बढ़ाने के लिए 'चीन-भारतीय भू-राजनीतिक रस्साकशी' बनी रहती है। दक्षिण एशिया में चीन की बढ़ती आर्थिक और समुद्री पैठ के साथ, भारत ने अपने पड़ोस में चीनी प्रभाव का मुकाबला करने के लिए बांग्लादेश को सहायता प्रदान करना और रणनीतिक निवेश करना शुरू कर दिया है। बांग्लादेश भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए.) के संबंध में एक संतुलन बनाए रखने की कोशिश कर रहा है। बांग्लादेश "बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव" (बी.आर.आई.) का समर्थन करने के लिए काफी व्यावहारिक रहा है और इस क्षेत्र में भारत के मूल रणनीतिक हितों के लिए प्रतिबद्ध रहते हुए चीन से ऋण का समर्थन करता है।[xi] दक्षिण एशिया और हिंद महासागर क्षेत्र (आई.ओ.आर.) में बढ़ते अमेरिकी और चीनी हितों ने बांग्लादेश को सभी महत्वपूर्ण हितधारकों के साथ सक्रिय रूप से सहयोग करने का एक अनूठा अवसर प्रदान किया है। भारत ट्रम्प प्रशासन की "फ्री एंड ओपन इंडो-पैसिफिक" (एफ.ओ.आई.पी.) रणनीति में एक प्रमुख अमेरिकी भागीदार है।

भारत के लिए भू-रणनीतिक महत्व-

बांग्लादेश भारत के लिए सैन्य दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि चीन-भारत सैन्य संघर्ष में सिलीगुड़ी कॉरिडोर को चीन आसानी से बंद कर सकता है। जिसके जरिए भारत अपने पूर्वी राज्यों से संपर्क बनाए रखता है। इस स्थिति में भारत के पास पूर्वी राज्यों से अपने संबंधों की रक्षा के लिए बांग्लादेश के क्षेत्र का उपयोग करना ही एकमात्र विकल्प होगा। इसलिए भारत के लिए बांग्लादेश के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध रखना बहुत जरूरी है, जो उसकी सुरक्षा के लिए जरूरी है। भारत अब बांग्लादेश के चटगांव बंदरगाह के जरिए अपने पूर्वोत्तर हिस्से को चीन से जोड़ने का प्रस्ताव कर रहा है, जो बी.सी.आई.एम. और बांग्लादेश-भूटान-भारत-नेपाल (बी.बी.आई.एन.) कॉरिडोर के पूरक के रूप में क्षेत्रीय एकीकरण को भी बढ़ावा देगा। भारत अब बी.बी.आई.एन. उप-क्षेत्रीय केंद्र का उपयोग करके पूर्वोत्तर में कनेक्टिविटी और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए

"सीमित चीनी निवेश" की अनुमति देना चाहता है। भारत के पूर्वोत्तर राज्यों को मुख्य भूमि से जोड़ने वाले चिकन नेक या सिलीगुड़ी कॉरिडोर ने भारत के लिए बांग्लादेश को महत्वपूर्ण बना दिया है। यह कॉरिडोर भारत के लिए सबसे भौगोलिक मजबूरियों में से एक है। यह संकीर्ण कॉरिडोर पूरे पूर्वोत्तर क्षेत्र को भारतीय मुख्य भूमि से अलग करता है। बांग्लादेश भारतीय मुख्य भूमि और पूर्वोत्तर क्षेत्र के बीच एक व्यापक संबंध बनाता है। क्योंकि अगरतला, कोलकाता से 1,650 किमी और शिलांग और गुवाहाटी के माध्यम से नई दिल्ली से 2,637 किमी दूर है, दूसरी ओर, बांग्लादेश के माध्यम से अगरतला और कोलकाता के बीच की यात्रा केवल लगभग 550 किमी है। इसके अलावा, बांग्लादेश के प्रमुख शहरों और पूर्वोत्तर भारत के बीच औसत दूरी 20 किमी से 300 किमी है।

नतीजतन, बांग्लादेश को सदैव पूर्वोत्तर क्षेत्र की मुख्य भूमि भारत के साथ रेल, सड़क और नदी मार्गों से संपर्क के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है इतना ही नहीं, भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र सुरक्षा के लिहाज से सबसे कमजोर क्षेत्रों में से एक है। पूर्वोत्तर राज्य भारतीय मुख्य भूमि से लगभग अलग-थलग हैं।[xii] आतंकवादी और अलगाववादी "चिकन नेक" का लाभ उठाते हैं और इन राज्यों में अपने विद्रोही आंदोलनों को अंजाम देते हैं। बदले में, बांग्लादेश हमेशा स्थिति से निपटने में भारत के साथ रहा है।

हिंद महासागर को लेकर चीन और अमेरिका में संघर्ष-

हिंद महासागर चीन की ऊर्जा आपूर्ति और मार्गों के लिए एक प्रमुख व्यापारिक मार्ग है, जो इसे कमज़ोरियों का क्षेत्र भी बनाता है। 10 में से, इसके नौ आपूर्तिकर्ताओं का मार्ग हिंद महासागर क्षेत्र से होकर जाता है। इन महत्वपूर्ण समुद्री संचार लाइनों (S.L.O.C.) को सुरक्षित करना चीन के लिए एक प्रमुख प्राथमिकता है। और चीनी आरोहण को बाध्य के लिए अमेरिका की भी हिंद महासागर क्षेत्र में समान रुचि है। बंगाल की खाड़ी हिंद महासागर क्षेत्र के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में से एक है।

बंगाल की खाड़ी तक अपनी खुली पहुँच के कारण, बांग्लादेश चीन और अमेरिका दोनों के लिए महत्वपूर्ण हो गया है। समुद्र की ओर, बांग्लादेश बंगाल की खाड़ी में 12 बंदरगाहों में से तीन - चटगाँव, मोंगला और पायरा- को बनाए रखता है। बांग्लादेश चीन के साथ परिकल्पित "स्ट्रिंग ऑफ़ पर्ल्स" रणनीति और "समुद्री रेशम मार्ग" के निर्माण में भागीदार बनने के लिए एक प्रमुख उम्मीदवार है। बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) के भूमि आयामों में संपूर्ण यूरेशियन महाद्वीप में फैले कई परस्पर जुड़े गलियारे शामिल हैं। बांग्लादेश, बांग्लादेश-चीन-भारत-म्यांमार (बीसीआईएम) आर्थिक गलियारे के मध्य में स्थित है।

बांग्लादेश 21वीं सदी के समुद्री रेशम मार्ग पर भी रणनीतिक स्थान रखता है, जहाँ चटगाँव का बंदरगाह हिंद महासागर के माध्यम से एक प्रमुख समुद्री केंद्र है। बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) की शुरुआत के बाद से, चीन ने अपने विशाल वित्तीय प्रभाव के साथ बुनियादी ढाँचे की परियोजनाओं में अरबों डॉलर खर्च करके बांग्लादेश के साथ अपने संबंधों को बढ़ावा देने के लिए विशेष पहल शुरू की है। चीन बांग्लादेश को समुद्री रेशम मार्ग (BRI के खंडों में से एक) के लिए प्रवेश द्वारों में से एक मानता है जो चीन को हिंद महासागर

और उससे आगे तक पहुँच प्रदान करता है। इसलिए, चीन ने बांग्लादेश के सोनादिया में एक गहरे समुद्र के बंदरगाह के निर्माण में गहरी दिलचस्पी दिखाई।

निष्कर्ष-

भारत-बांग्लादेश संबंधों ने शुरू से ही दोनों देशों के नीति नियोजकों का ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि दोनों देश आपसी चिंता और हित के कई क्षेत्रों में काफी हद तक एक-दूसरे पर निर्भर हैं। वर्ष 1971 में बांग्लादेश की आजादी के बाद से भारत-बांग्लादेश संबंधों ने एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते का अनुसरण किया है। पहले पाँच वर्षों के दौरान, द्विपक्षीय संबंधों को अनिवार्य रूप से एक भावनात्मक दृष्टिकोण द्वारा प्रेरित किया गया था। परिणामस्वरूप ; नस्लीय, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई और राजनीतिक बंधन मजबूत हुए जिससे दोनों देश एक-दूसरे के करीब आए। भारत के उत्तर पूर्वी भाग की सीमा का केवल दो प्रतिशत हिस्सा भारत के साथ लगता है और शेष चीन, म्यांमार और बांग्लादेश के साथ लगता है। इसलिए यह कई व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए वस्तुत: एक स्थल-रुद्ध क्षेत्र है। भारत का उत्तर-पूर्व और बांग्लादेश प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत का उत्तर पूर्व बांग्लादेश से बड़ा है, लेकिन जनसंख्या और जनसंख्या घनत्व भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्र की तुलना में बांग्लादेश में बहुत अधिक है। बांग्लादेश की मुक्ति के ठीक बाद, आपसी आर्थिक सहायता और सहयोग अपने चरम पर पहुंच गया था। मुक्ति-युद्ध में पाकिस्तानी सेना द्वारा तबाह किए जाने के बाद बांग्लादेश को मदद और सहयोग की आवश्यकता थी। दुनिया के कई मित्र देश उसकी तबाह हो चुकी आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए मदद के लिए आगे आए। संकट के इस समय में भारत की मदद ने बांग्लादेश के साथ वर्ष 2009 से 2019 तक संबंधों को मजबूत किया। बांग्लादेश अपनी स्वतंत्रता के शुरुआती कुछ वर्षों में अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को काफी हद तक सामान्य बनाने में सक्षम था। लेकिन जल्द ही सीमा प्रबंधन, व्यापार, नदी जल बंटवारा, सीमा पार आतंकवाद, पूर्वोत्तर क्षेत्र में अप्रवासियों की आमद जैसे कई द्विपक्षीय मुद्दों के कारण आपसी विश्वास और सहयोग कम भी हुआ है।

अधिक क्षेत्रीय सहयोग, विशेष रूप से गरीबी के जाल को मिटाने के लिए आर्थिक विकास के क्षेत्र में, सभी दक्षिण एशियाई लोगों का अंतिम लक्ष्य हो सकता है। लेकिन जब तक इस समय कुछ सुधारात्मक और सरल उपाय नहीं किए जाते, स्थिति विपरीत दिशा में जा सकती है। यह लाखों गरीबी से पीड़ित दक्षिण एशियाई लोगों के लिए बेहद निराशाजनक होगा। गरीबी कई अन्य नए अपराधों को भी जन्म देती है, जैसे महिला, बाल और मादक पदार्थों की तस्करी, बंदूक चलाना और सीमा पार आतंकवाद, और इसलिए लंबित मुद्दों को हल करने के लिए समझ और बातचीत के माध्यम से अधिक राजनीतिक इच्छाशक्ति पैदा करने की आवश्यकता है, जिनमें से कुछ असाध्य भी लग सकते हैं। उन्हें भू-राजनीतिक मजबूरियों से परे जाना होगा और यूरोपीय और दक्षिण पूर्व एशियाई लोगों की तरह अधिक ठोस क्षेत्रीय सहयोग की ओर बढ़ना होगा। अन्यथा, विकास अपने आप में दक्षिण एशियाई लोगों से दूर हो जाएगा। दक्षिण एशियाई लोगों के लिए मानसिकता में बदलाव एक सख्त जरूरत है। सभी के लिए समृद्धि ही आगे बढ़ने का रास्ता है। बांग्लादेश और भारत दोनों को इस प्रक्रिया में योगदान देने के लिए बहुत कुछ है।

दक्षिण एशिया की एक प्रमुख शक्ति भारत, अपने पड़ोस को अधिक स्थिर और सुरक्षित बनाने के लिए तेज़ी से एक क्षेत्रीय शक्ति बन जाएगा। इसलिए, उसे बांग्लादेश और अन्य निकटतम पड़ोसियों को द्विपक्षीय और बहुपक्षीय संबंधों में अधिक छूट देने की आवश्यकता हो सकती है। बांग्लादेश एक युवा राष्ट्र है जो बंगाल की खाड़ी में एक महत्वपूर्ण भू-रणनीतिक भूमिका निभाएगा। विकासशील देशों और विशेष भागीदारों के रूप में, भारत और बांग्लादेश ने पिछले 15 वर्षों में बहुत कुछ हासिल किया है।

भारत-बांग्लादेश संबंध बिम्सटेक, सार्क और आईओआरए संरचनाओं के तहत क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय एकीकरण के लिए एक प्रमुख आधार बनेंगे। भारत अपने साझा हितों, विशेष रूप से 'ग्लोबल साउथ' के हितों को बढ़ावा देने के लिए वैश्विक मंचों पर मिलकर काम करेंगे। हम मानते हैं कि हमें भविष्य में आपसी विश्वास और लाभ के आधार पर संबंधों को और अधिक गहरा और उच्च गुणवत्ता वाला बनाना होगा। भारत को विश्वास है कि भविष्य के लिए यह साझा दृष्टिकोण हमारे ऐतिहासिक संबंधों को मजबूत करने और द्विपक्षीय संबंधों में वर्तमान और भविष्य के लिए तैयार साझेदारी बनाने को और गति प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

- Bammi, Y. M. (n.d.). *India–Bangladesh relations: The way ahead*. United Service Institution of India.
- Bangladesh, China agree to expand scale of bilateral trade: Business. (2024, January 17). *Bangladesh Sangbad Sangstha (BSS)*. https://www.bssnews.net/business/168562
- Carafano, J. J., & Smith, J. M. (2018). *How Bangladesh can improve Indian Ocean security*. The Heritage Foundation. https://www.heritage.org/asia/commentary/how-bangladesh-can-improve-indian-ocean-security
- Chakma, B. (2019). BRI and Sino-Indian geo-economic competition in Bangladesh: Coping strategy of a small state. *Strategic Analysis, 43*(3), 227–239. https://doi.org/10.1080/09700161.2019.1599567
- Chaturvedi, S. K. (Ed.). (2008). *Human development in South Asia in the 21st century* (p. 24). Radha Publications.
- Cookson, F., & Johanek, T. F. (2018, April 11). China and India's geopolitical tug of war for Bangladesh. *East Asia Forum*.

https://www.eastasiaforum.org/2018/04/11/china-and-indias-geopolitical-tug-of-war-for-bangladesh/

- Datta, S. (2008). Bangladesh's relations with China and India: A comparative study. *Strategic Analysis, 32*(5), 819–842. https://doi.org/10.1080/09700160802309134
- Defence cooperation: Dhaka, Delhi sign deal. (2018). *The Daily Star*. https://www.thedailystar.net/backpage/dhaka-delhi-sign-3-deals-1575109
- Gambhir, M. (2021, May 31). *Teesta dispute and India–Bangladesh relations*.
- Geostrategic: Asia-Pacific. (n.d.). Institute of International Relations. Retrieved July 23, 2007, from http://www.idis.gr/people/arvan.doc
- Hasan, M. (2015). Modi's charm offensive in Dhaka. *The Daily Star*. https://www.thedailystar.net/op-ed/politics/modis-charm-offensive-dhaka-93628
- Jahan, S., & Akhtar, M. F. (2019). India–Bangladesh relations: Dynamics of cooperation and conflict. *Asian Journal of Political Science, 27*(3), 265–282.
- Karim, M. (2009). *Bangladesh–India relations: Some recent trends*. ResearchGate. https://www.researchgate.net/publication/257946941_Bangladesh-India_Relations_Some_Recent_Trends_1
- Kallol, A. S. (2017, October 4). Bangladesh signs third LOC deal worth $4.5 billion with India. *Dhaka Tribune*. https://www.dhakatribune.com
- Khan, M. M. (2018). India–Bangladesh relations: Opportunities and challenges. *India Quarterly, 74*(4), 331–346.
- Ministry of External Affairs. (2012, August 17). *Foreign secretary-level talks between India and Bangladesh* [Speech/Statement]. Government of India. https://www.mea.gov.in/Speeches-Statements-hi.htm?dtl/20348/Foreign
- Ministry of External Affairs. (2024). *Brief on India–Bangladesh bilateral relations*. Government of India. https://www.mea.gov.in/Portal/ForeignRelation/India-Bangladesh2024.pdf

- Pattanaik, S. S. (2003). India and its northern and eastern neighbors: Confidence building through cooperation. In M. Ahmar (Ed.), *Paradigms of conflict resolution in South Asia* (p. 187). University Press Limited.
- Pattanaik, S. S. (Ed.). (2012). *India–Bangladesh relations: Four decades of historical imperatives and future directions*. Gyan Publishing House.
- Paul, M., & Khan, M. H. (2020). Water sharing and India–Bangladesh relations: Prospects and challenges. *Journal of Asian and African Studies, 55*(8), 1192–1208.
- Rashid, H. U. (2003). *International relations and Bangladesh* (p. 251). University Press Limited.
- Shukla, A. (2017, September 7). *Bangladesh ki arthavyavastha: Purva karyanishpādan aur bhavi sambhāvanāen* [Bangladesh's economy: Past performance and future prospects]. Indian Council of World Affairs (ICWA).
- Suhag, M. (2024, May 2). *India and Bangladesh: An emblem for the 21st century*. Centre for Joint Warfare Studies.
- Xiaoping, Y. (2018, April 4). When India's strategic backyard meets China's strategic periphery: Beijing's view. *War on the Rocks*. https://warontherocks.com/2018/04/when-indias-strategic-backyard-meets-chinas-strategic-periphery-the-view-from-beijing/
- Ashrat, S. (2023, March 9). Importance of Bangladesh for India amidst 'growing might' of China in South Asia. *Counterview*. https://www.counterview.net/2023/03/importance-of-bangladesh-for-india.html

[i] Bammi, Y. M. (n.d.). *India–Bangladesh relations: The way ahead*. United Service Institution of India.

[ii] Pattanaik, S. S. (Ed.). (2012). *India–Bangladesh relations: Four decades of historical imperatives and future directions* [भारत-बांग्लादेश संबंधों के चार दशक: ऐतिहासिक अनिवार्यताएं और भविष्य की दिशा]. Gyan Publishing House.

[iii] Suhag, M. (2024, May 2). *India and Bangladesh: An emblem for the 21st century*. Centre for Joint Warfare Studies.

[iv] कुमार, एस. (2014). भारत-बांग्लादेश गंगा जल संधि: मुद्दे और चुनौतियाँ। *Asian Affairs: An American Review, 41*(3), 123–138.

[v] चौधरी, एस. (2020). भारत-बांग्लादेश धार्मिक कूटनीति में हालिया रुझान। *जर्नल ऑफ इंटरनेशनल रिलेशंस, 29*(2), 203–219.

[vi] Bangladesh, China agree to expand scale of bilateral trade: Business. (2024, January 17). *Bangladesh Sangbad Sangstha (BSS)*. https://www.bssnews.net/business/168562

[vii] Gambhir, M. (2021, May 31). *Teesta dispute and India–Bangladesh relations*.

[viii] Ministry of External Affairs. (2024, June 22). *India–Bangladesh shared vision for future: Enhancing connectivity, commerce and collaboration for shared prosperity*. Government of India. https://www.mea.gov.in/bilateral-documents.htm?dtl/37897/IndiaBangladesh_Shared_Vision_for_Future_Enhancing_Connectivity_Commerce_and_Collaboration_for_Shared_Prosperity

[ix] भारद्वाज, संजय. (2003). बांग्लादेश की विदेश नीति बनाम भारत। *सामरिक विश्लेषण (Strategic Analysis), 27*(2), 263–278. https://doi.org/10.1080/09700160308450087

[x] Yang, X. (2018). *When India's strategic backyard meets China's strategic periphery: The view from Beijing*. War on the Rocks. https://warontherocks.com/2018/04/when-indias-strategic-backyard-meets-chinas-strategic-periphery-the-view-from-beijing/

[xi] चकमा, भूमित्रा. (2019). बांग्लादेश में बीआरआई और चीन-भारतीय भू-आर्थिक प्रतिस्पर्धा: एक छोटे राज्य की मुकाबला करने की रणनीति। *सामरिक विश्लेषण (Strategic Analysis), 43*(3), 227–239. https://doi.org/10.1080/09700161.2019.1599567

[xii] Ashrat, S. (2023, March 9). *Importance of Bangladesh for India amidst 'growing might' of China in South Asia*. Counterview. https://www.counterview.net/2023/03/importance-of-bangladesh-for-india.html

Manuscript Timeline

Submitted : *March 12, 2026* ***Accepted :*** *March 20, 2026* ***Published :*** *March 30, 2026*

ISM-Based Analysis of Key Factors Affecting Consumer Investment Decisions in Gold and Silver in the Digital Era : Evidence from the Paytm Digital Gold Platform

Ms Shiwani Chhoker[1]

Abstract

The rapid expansion of financial technology (FinTech) has significantly transformed traditional investment practices by providing consumers with convenient, secure, and affordable digital investment platforms. Among various digital investment products, digital gold and silver have emerged as attractive alternatives to conventional physical investments owing to their flexibility, transparency, liquidity, and low entry barriers. Platforms such as Paytm Digital Gold have democratized precious metal investments by enabling investors to purchase fractional quantities of gold and silver through mobile applications. Despite the increasing adoption of digital investment platforms, limited research has examined the structural relationships among the factors influencing consumer investment decisions.

The present study aims to identify and analyze the key factors affecting consumer investment decisions in digital gold and silver with special reference to the Paytm Digital Gold Platform. Based on an extensive review of literature and expert opinions, ten critical variables were identified, namely Trust in Platform, Financial Literacy, Price Volatility Perception, Investment Affordability, Digital Accessibility, Liquidity and Ease of Selling, Brand Image, Regulatory Assurance, Social Influence, and Transparency and Information Availability. Interpretive Structural Modelling (ISM) was employed to establish the contextual relationships among these variables, while MICMAC analysis was used to classify the variables according to their driving and dependence powers.

The findings reveal that Financial Literacy and Regulatory Assurance are the most influential driving variables that significantly affect other determinants within the system. Trust in Platform also plays a crucial role in encouraging consumer participation in digital gold investments. Variables such as Digital Accessibility, Brand Image, Liquidity, and Transparency function as linkage variables, whereas Investment Affordability and Price Volatility Perception emerge as highly dependent variables. The proposed

[1] Research Scholar, Department of Management, Indira Gandhi Delhi Technical University, Kashmere Gate, Delhi.

ISM–MICMAC framework provides a systematic understanding of the hierarchical relationships among these variables and offers practical guidance to fintech companies, policymakers, and investment platforms in designing consumer-centric digital investment strategies.

Keywords: *Digital Gold, Digital Silver, Paytm, FinTech, Consumer Investment Behaviour, Interpretive Structural Modelling, MICMAC, Financial Literacy, Trust, Digital Investment.*

Introduction-

Financial technology (FinTech) has transformed the global financial ecosystem by introducing innovative digital platforms that simplify financial transactions, investment management, lending, insurance, and wealth creation. Rapid technological advancement, increasing internet penetration, smartphone adoption, and government initiatives promoting digital financial inclusion have accelerated the transition from traditional financial services to technology-driven financial ecosystems. In India, this transformation has significantly altered consumer investment behaviour, particularly among younger and digitally active investors.

Gold and silver have historically occupied an important position in the Indian economy and cultural heritage. Traditionally, Indian households have viewed precious metals as symbols of wealth, financial security, and social prestige. Investments in physical gold and silver have long been considered effective hedging instruments against inflation, currency depreciation, and economic uncertainty. However, traditional investment methods involve several practical challenges, including storage costs, security concerns, purity verification, and high transaction expenses.

The emergence of digital investment platforms has fundamentally changed this investment landscape. Digital gold and silver allow consumers to purchase fractional quantities of precious metals online without requiring physical storage. These investments are supported by secure vault facilities, real-time pricing mechanisms, transparent transactions, and convenient redemption options. Such features have made digital precious-metal investments increasingly attractive to retail investors seeking convenience, affordability, and flexibility.

Among the leading FinTech companies operating in India, Paytm has established itself as one of the most widely recognized digital financial service providers. Initially developed as a mobile payment platform, Paytm has expanded its services to include banking, insurance, mutual funds, stock trading, and digital precious-metal investments. Through the Paytm Digital Gold Platform, consumers can purchase, sell, accumulate, and redeem gold and silver digitally with assured purity and secure storage. The integration of digital investments within Paytm's broader

financial ecosystem has significantly contributed to the growing popularity of digital gold investments across different demographic groups.

Although the adoption of digital gold platforms continues to increase, consumer investment decisions remain influenced by numerous interconnected factors. Variables such as trust in digital platforms, financial literacy, perceived price volatility, affordability, digital accessibility, liquidity, brand image, regulatory assurance, transparency, and social influence collectively determine consumers' willingness to adopt digital investment products. These variables do not operate independently; rather, they interact within a complex system where certain factors exert greater influence over others.

Traditional statistical techniques generally identify correlations among variables but often fail to explain their hierarchical interrelationships. Interpretive Structural Modelling (ISM), developed by Warfield, provides a systematic methodology for examining complex relationships among multiple variables by developing a structured hierarchical model. When integrated with MICMAC (Cross-Impact Matrix Multiplication Applied to Classification), the methodology enables classification of variables according to their driving and dependence powers, thereby identifying the most influential determinants within the system.

The present study applies the ISM–MICMAC methodology to identify and analyse the major factors affecting consumer investment decisions in digital gold and silver with special reference to the Paytm Digital Gold Platform. The proposed framework contributes to existing literature on FinTech adoption, digital investment behaviour, and consumer decision-making while providing practical implications for digital investment platforms and policymakers

Literature Review-

The increasing adoption of financial technology (FinTech) has transformed traditional investment practices by introducing innovative digital investment platforms that offer accessibility, convenience, and transparency. Digital gold and silver have emerged as attractive investment alternatives, allowing consumers to invest in precious metals without the challenges associated with physical ownership. Several researchers have investigated the behavioural, technological, and financial factors influencing consumer investment decisions in digital financial products.

Sundaravadhani and Sathya (2016) examined various forms of gold investment and reported that Indian investors continue to perceive gold as one of the safest investment avenues due to its cultural significance, liquidity, and long-term value appreciation. Although traditional forms of investment dominate, digital platforms are gradually changing investor preferences by providing convenience and lower investment thresholds.

Lahoti (2017) investigated investor perceptions towards gold investments and concluded that demographic characteristics, investment awareness, and trust significantly influence investor decisions. The study emphasized that credibility and transparency remain essential determinants of investment behaviour.

Singh and Kaur (2019) analysed the motives behind gold investment and found that wealth preservation, inflation hedging, liquidity, and cultural attachment remain the primary reasons for investing in precious metals. Their findings also indicated that technological innovations have begun influencing younger investors' preferences.

Mehta and Joshi (2019) compared investment preferences between Exchange Traded Funds (ETFs) and physical gold. Their research demonstrated that younger and financially literate investors increasingly prefer digital investment alternatives due to greater convenience, flexibility, and reduced transaction costs.

Thapa and Shah (2020) identified liquidity, security, expected returns, and market stability as major determinants influencing consumer investment decisions in gold. The study highlighted that investor confidence significantly increases when investment platforms provide transparent pricing mechanisms and secure transactions.

Menon (2020) reported that investors continue to regard gold as an effective hedge against inflation and economic uncertainty. During periods of financial instability, consumers tend to increase their investments in precious metals because of their perceived stability.

Sharma and Gupta (2021) investigated digital investment behaviour and concluded that digital literacy substantially influences consumers' willingness to adopt online investment platforms. Their study suggested that improving financial awareness can accelerate the adoption of digital financial products.

Kumar and Rao (2021) compared investment behaviour towards gold and silver and observed that gold remains the preferred investment option due to its relatively stable price movements, although silver has gained popularity among younger investors because of affordability.

Selvaraj and Sudha (2022) explored barriers affecting gold investment decisions and identified perceived risk, limited awareness, and accessibility constraints as important obstacles preventing wider adoption of digital investment platforms.

Recent studies have increasingly focused on digital gold investments. Bhisikar et al. (2024) found that investor perception towards sovereign gold bonds and digital investment products depends largely upon trust, regulatory assurance, and expected returns. Similarly, Suchitra et al. (2025) reported that trust significantly reduces perceived investment risk and positively affects consumers' intentions to adopt digital gold investment platforms.

Pandey et al. (2025) investigated FinTech adoption in electronic gold investment and concluded that innovation, perceived usefulness, ease of use, and consumer attitudes significantly influence behavioural intentions. Their findings support the growing importance of digital investment ecosystems in emerging economies.

Overall, previous studies indicate that financial literacy, trust, digital accessibility, transparency, regulatory support, and perceived risk remain critical determinants influencing consumer investment behaviour. However, most existing studies employ conventional statistical techniques and provide limited understanding of the structural relationships among these factors.

Research Gap-

A review of existing literature reveals several important research gaps.

First, most previous studies have focused on identifying factors affecting gold investment behaviour using descriptive statistics, regression analysis, or structural equation modelling. Limited research has attempted to investigate the hierarchical relationships among these variables.

Second, although digital gold investment has received growing academic attention, relatively few studies have specifically examined consumer investment decisions on integrated FinTech platforms such as Paytm Digital Gold.

Third, the majority of previous research evaluates individual determinants such as trust, financial literacy, perceived risk, and digital accessibility independently rather than examining their combined structural influence.

Fourth, studies applying Interpretive Structural Modelling (ISM) and MICMAC analysis in digital investment research remain extremely limited despite their usefulness in analysing complex decision-making systems.

Finally, no comprehensive ISM–MICMAC framework was identified that analyses the key factors affecting consumer investment decisions in digital gold and silver with special reference to the Paytm Digital Gold Platform. The present study attempts to address this gap by developing a structured hierarchical model illustrating the contextual relationships among the identified variables.

Objectives Of The Study-

The present study has been undertaken with the following objectives:

1. To identify the major factors affecting consumer investment decisions in digital gold and silver with special reference to the Paytm Digital Gold Platform.
2. To analyse the interrelationships among the identified factors and develop a hierarchical structural framework using Interpretive Structural Modelling (ISM) and MICMAC analysis.

RESEARCH METHODOLOGY -

Research Design-

The present study adopts an exploratory and descriptive research design to identify and analyze the key factors affecting consumer investment decisions in digital gold and silver with special reference to the Paytm Digital Gold Platform. The exploratory nature of the research enables the identification of complex behavioural, technological, financial, and institutional factors influencing investment decisions, while the descriptive approach helps explain the relationships among these variables in a structured manner.

The study is based on both primary and secondary sources of data. Primary data were collected through structured interactions, expert opinions, and pairwise comparison exercises conducted with respondents familiar with digital investment platforms. Secondary data were collected from research journals, conference proceedings, books, government reports, RBI publications, SEBI reports, company reports, and authenticated online sources related to digital investments, financial technology, consumer behaviour, and precious metal investments.

The research employs Interpretive Structural Modelling (ISM) as the primary analytical technique for identifying and establishing hierarchical relationships among the selected variables. MICMAC (Cross-Impact Matrix Multiplication Applied to Classification) analysis has also been employed to classify variables according to their driving power and dependence power.

Variables Identified for ISM Analysis-

Based on an extensive literature review and expert consultation, ten variables influencing consumer investment decisions in digital gold and silver were identified.

Table 1. Variables Identified for ISM–MICMAC Analysis

Code	Variable	Nature of Variable
V1	Trust in Digital Platform	Psychological
V2	Financial Literacy	Cognitive
V3	Price Volatility Perception	Behavioural
V4	Investment Affordability	Economic
V5	Digital Accessibility	Technological
V6	Liquidity and Ease of Selling	Operational
V7	Brand Image and Reputation	Marketing
V8	Regulatory Assurance	Institutional
V9	Social Influence	Social
V10	Transparency and Information Availability	Informational

These variables were selected because previous studies consistently identified them as important determinants of digital investment adoption and consumer behaviour.

Interpretive Structural Modelling (ISM)-

Interpretive Structural Modelling (ISM), developed by John N. Warfield (1974), is a systematic methodology used to identify and summarize relationships among specific variables describing a complex system. ISM transforms expert judgments into a structured hierarchical model by establishing contextual relationships among variables.

Compared with conventional statistical techniques, ISM provides a visual representation of interrelationships among variables and distinguishes between highly influential driving factors and highly dependent outcome variables.

The ISM methodology adopted in the present study consists of the following sequential steps:

1. Identification of variables through literature review and expert consultation.
2. Development of the Structural Self-Interaction Matrix (SSIM).
3. Conversion of SSIM into the Initial Reachability Matrix (IRM).
4. Development of the Final Reachability Matrix (FRM) after applying the transitivity rule.
5. Level partitioning of variables.
6. Development of the Conical Matrix.
7. Construction of the ISM Digraph.
8. Development of the hierarchical ISM model.
9. Classification of variables using MICMAC analysis.

Structural Self-Interaction Matrix (SSIM)-

The Structural Self-Interaction Matrix (SSIM) establishes contextual relationships between every pair of variables based on expert opinions. Four symbols are used to indicate the direction of influence.

Table 2. Symbols Used in SSIM

Symbols to define relationships:

V → row variable influences corresponding column variable
A → row variable is influenced by corresponding column variable
X → row and correspnding column variable infulence each other
O → row and correspnding column variable have no relationship

MICMAC Analysis-

MICMAC (Matrice d'Impacts Croisés Multiplication Appliquée à un Classement) complements the ISM methodology by analysing the driving power and dependence power of each variable.

Variables are classified into four categories:

1. ***Autonomous Variables:*** Low driving power and low dependence.
2. ***Dependent Variables:*** Low driving power but high dependence.

3. ***Linkage Variables:*** High driving power and high dependence.
4. ***Independent (Driving) Variables:*** High driving power but low dependence.

This classification assists researchers and practitioners in identifying the most influential variables that require strategic attention for improving digital investment adoption.

Research Framework-

The conceptual framework of the present study assumes that consumer investment decisions in digital gold and silver are influenced by psychological, behavioural, technological, institutional, and informational factors.

Among these, Financial Literacy, Trust in Digital Platform, and Regulatory Assurance are expected to function as primary driving variables. Variables such as Brand Image, Digital Accessibility, Liquidity, and Transparency are expected to mediate investment decisions, whereas Investment Affordability and Price Volatility Perception are anticipated to emerge as dependent outcome variables.

The proposed ISM–MICMAC framework provides a systematic representation of these interrelationships and offers valuable insights for fintech companies, policymakers, and researchers interested in digital investment behaviour.

DATA ANALYSIS -

Structural Self-Interaction Matrix (SSIM)-

Following the identification of the ten variables affecting consumer investment decisions in digital gold and silver, contextual relationships among these variables were established through expert opinions and pairwise comparisons. The Structural Self-Interaction Matrix (SSIM) forms the foundation of the Interpretive Structural Modelling (ISM) methodology by representing the directional influence between every pair of variables.

Four symbols were used to express the relationships among variables:

Symbols to define relationships:

V → row variable influences corresponding column variable
A → row variable is influenced by corresponding column variable
X → row and correspnding column variable infulence each other
O → row and correspnding column variable have no relationship

Table 3. Structural Self-Interaction Matrix (SSIM)

Variables	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
Trust in Digital Platform		A	V	V	V	X	X	A	A	X
Financial Literacy			V	V	V	V	V	V	V	V
Price Volatility Perception				V	O	O	O	A	O	O
Investment Affordability					O	O	O	O	O	O
Digital Accessibility						V	V	O	O	V

Liquidity and Ease of Selling							V	O	O	V
Brand Image and Reputation								A	V	V
Regulatory Assurance									V	V
Social Influence										V
Transparency and Information Availability										

Interpretation-

The SSIM indicates that Financial Literacy (V2) influences nearly all the remaining variables, highlighting its central role in shaping consumer investment behaviour. Regulatory Assurance (V8 also exerts considerable influence by strengthening trust, brand image, and transparency. Mutual relationships between Trust, Liquidity, and Brand Image indicate that improvements in one factor reinforce the others, ultimately increasing consumer confidence in digital investment platforms.

Initial Reachability Matrix (IRM)-

The Structural Self-Interaction Matrix was converted into the Initial Reachability Matrix using standard ISM conversion rules:

$$V \rightarrow (1,0)$$
$$A \rightarrow (0,1)$$
$$X \rightarrow (1,1)$$
$$O \rightarrow (0,0)$$

Table 4. Initial Reachability Matrix

Variables	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	Driving Power
Trust in Digital Platform	1	0	1	1	1	1	1	0	0	1	7
Financial Literacy	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	10
Price Volatility Perception	0	0	1	1	0	0	0	0	0	0	2
Investment Affordability	0	0	0	1	0	0	0	0	0	0	1
Digital Accessibility	0	0	0	0	1	1	1	0	0	1	4
Liquidity and Ease of Selling	1	0	0	0	0	1	1	0	0	1	4
Brand Image and Reputation	1	0	0	0	0	0	1	0	1	1	4
Regulatory Assurance	1	0	1	0	0	0	1	1	1	1	6
Social Influence	1	0	0	0	0	0	0	0	1	1	3
Transparency and Information Availability	1	0	0	0	0	0	0	0	0	1	2
Dependence Power	7	1	4	4	3	4	6	2	4	8	

Interpretation-

The Initial Reachability Matrix demonstrates that Financial Literacy possesses the highest driving power among all variables, followed by Trust in Platform and Regulatory Assurance. Variables such as Investment Affordability and Price Volatility

Perception exhibit relatively low driving power, indicating that they are primarily influenced by other variables within the system.

Final Reachability Matrix (FRM)-

The Final Reachability Matrix was obtained after incorporating the principle of transitivity. According to ISM methodology, if Variable A influences Variable B and Variable B influences Variable C, then Variable A is assumed to influence Variable C indirectly.

Table 5. Final Reachability Matrix

Variables	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	Driving Power
Trust in Digital Platform	1	0	1	1	1	1	1	0	1*	1	8
Financial Literacy	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	10
Price Volatility Perception	0	0	1	1	0	0	0	0	0	0	2
Investment Affordability	0	0	0	1	0	0	0	0	0	0	1
Digital Accessibility	1*	0	1*	1*	1	1	1	0	1*	1	8
Liquidity and Ease of Selling	1	0	1*	1*	1*	1	1	0	1*	1	8
Brand Image and Reputation	1	0	1*	1*	1*	1*	1	0	1	1	8
Regulatory Assurance	1	0	1	1*	1*	1*	1	1	1	1	9
Social Influence	1	0	1*	1*	1*	1*	1*	0	1	1	8
Transparency and Information Availability	1	0	1*	1*	1*	1*	1*	0	1*	1	8
Dependence Power	8	1	9	10	8	8	8	2	8	8	

Interpretation-

The Final Reachability Matrix demonstrates that Financial Literacy (V2) possesses the highest driving power (10) and the lowest dependence power, identifying it as the most influential driver in the system. Regulatory Assurance (V8) also exhibits substantial driving capability, emphasizing the importance of institutional support and regulatory confidence in digital investments.

Conversely, Investment Affordability (V4) and Price Volatility Perception (V3) possess high dependence but low driving power, indicating that these variables are outcomes influenced by stronger drivers such as financial literacy, trust, and regulatory assurance.

Table 6. Level Partitioning

Elements(Mi)	Reachability Set R(Mi)	Antecedent Set A(Ni)	Intersection Set R(Mi)∩A(Ni)	Level
1	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3
2	2,	2,	2,	5
3	3,	1, 2, 3, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	3,	2
4	4,	1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	4,	1
5	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3
6	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3
7	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3
8	8,	2, 8,	8,	4
9	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3
10	1, 5, 6, 7, 9, 10,	1, 2, 5, 6, 7, 8, 9, 10,	1, 5, 6, 7, 9, 10,	3

Level partitioning was carried out using the Reachability Set, Antecedent Set, and Intersection Set obtained from the Final Reachability Matrix. Variables whose Reachability Set and Intersection Set were identical were assigned to the same hierarchical level.

Table 7. Conical Matrix

Variables	4	3	1	5	6	7	9	10	8	2	Driving Power	Level
4	1	0	0	0	0	0	0	0	0	0	1	1
3	1	1	0	0	0	0	0	0	0	0	2	2
1	1	1	1	1	1	1	1*	1	0	0	8	3
5	1*	1*	1*	1	1	1	1*	1	0	0	8	3
6	1*	1*	1	1*	1	1	1*	1	0	0	8	3
7	1*	1*	1	1*	1*	1	1	1	0	0	8	3
9	1*	1*	1	1*	1*	1*	1	1	0	0	8	3
10	1*	1*	1	1*	1*	1*	1*	1	0	0	8	3
8	1*	1	1	1*	1*	1	1	1	1	0	9	4
2	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	10	5
Dependence Power	10	9	8	8	8	8	8	8	2	1		
Level	1	2	3	3	3	3	3	3	4	5		

The Conical Matrix reorganizes variables according to their hierarchical positions obtained during level partitioning. It provides the basis for constructing the ISM digraph.

The matrix clearly demonstrates that **Regulatory Assurance** and **Financial Literacy** occupy the lowest hierarchical levels, indicating their strong driving capability. Variables positioned at intermediate levels act as linkage variables connecting the primary drivers with the final dependent outcomes.

ISM Hierarchical Model-

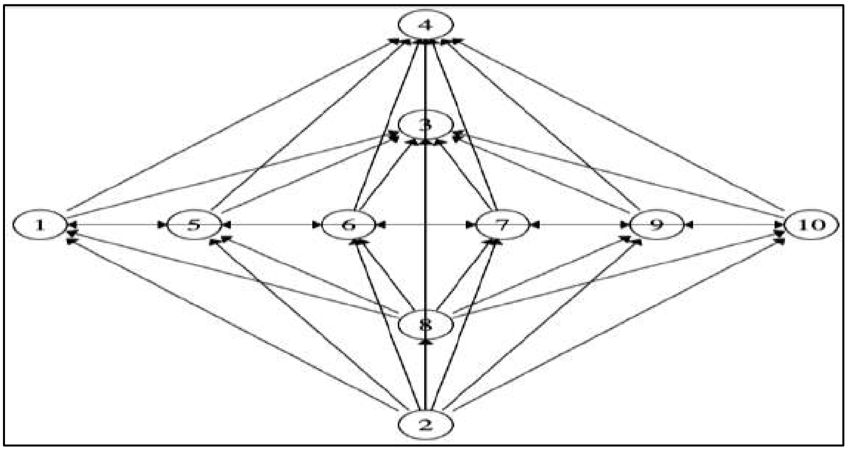

Based on the level partitioning results, the following hierarchical structure was obtained:

The ISM model indicates that strengthening regulatory assurance and improving financial literacy indirectly enhance trust, accessibility, transparency, and brand image, thereby positively influencing consumer investment decisions in digital gold and silver.

MICMAC Analysis-

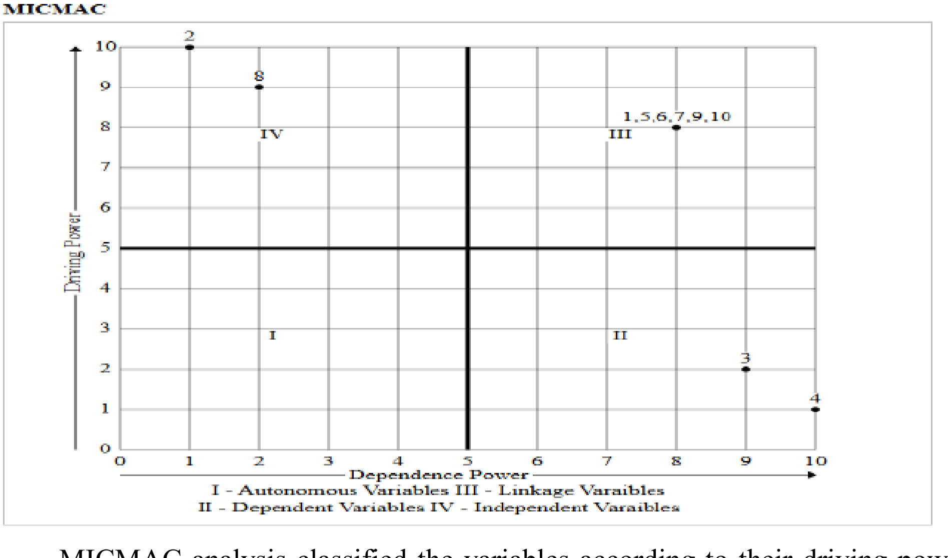

MICMAC analysis classified the variables according to their driving power and dependence power.

MICMAC Classificatio-

The MICMAC analysis reveals that Financial Literacy and Regulatory Assurance are the primary driving variables within the system. These variables significantly influence the remaining determinants and should therefore receive strategic attention from fintech companies and policymakers. The linkage variables exhibit both high driving and dependence power, implying that changes in these variables may produce widespread effects throughout the investment ecosystem. Investment Affordability and Price Volatility Perception emerge as the most dependent variables, reflecting the cumulative influence of the other factors in the model

Results And Discussion -

The present study employed Interpretive Structural Modelling (ISM) and MICMAC analysis to examine the interrelationships among the factors influencing consumer investment decisions in digital gold and silver with reference to the Paytm Digital Gold Platform. The hierarchical model developed through ISM provides valuable insights into the sequence and strength of influence among the identified variables.

The analysis reveals that Regulatory Assurance (V8) occupies the lowest level of the ISM hierarchy and possesses one of the highest driving powers. This indicates that a well-defined regulatory framework serves as the foundation for building confidence in digital investment platforms. Consumers are more willing to invest in digital gold and silver when they perceive that the platform operates under transparent regulations and adequate investor protection mechanisms. Regulatory support minimizes uncertainty, enhances platform credibility, and reduces perceived investment risk.

The findings further indicate that Financial Literacy (V2) is the strongest driving variable within the entire system. Financially literate consumers possess better knowledge regarding investment alternatives, market risks, digital financial products, and wealth management practices. Such consumers are more capable of evaluating investment opportunities objectively and are therefore more likely to adopt digital gold investment platforms. The results suggest that improving financial literacy through awareness programmes and educational initiatives can substantially enhance digital investment adoption.

The third level of the hierarchy consists of Trust in Platform, Digital Accessibility, Liquidity and Ease of Selling, Brand Image, Social Influence, and Transparency & Information Availability. These variables act as linkage variables because they simultaneously influence and are influenced by other variables within the system.

Trust in Platform plays a significant role in reducing perceived investment risk. Consumers are more likely to invest through digital platforms when they believe that transactions are secure, assets are genuine, and their investments remain protected. Brand Image further strengthens trust by enhancing the credibility of the investment platform.

Digital Accessibility significantly affects investment convenience. User-friendly mobile applications, simplified transaction processes, secure payment systems, and uninterrupted digital services encourage consumers to participate more actively in digital investments. Likewise, Liquidity and Ease of Selling provide flexibility by enabling investors to convert digital assets into cash whenever required.

Transparency and Information Availability also emerge as important determinants of investment behaviour. Availability of real-time pricing, transaction history, purity certificates, market updates, and investment information reduces uncertainty and enables informed decision-making.

Social Influence represents another significant variable affecting consumer investment decisions. Recommendations from family members, friends, financial advisors, and social media communities positively influence investor confidence, particularly among first-time digital investors.

The study further identifies Price Volatility Perception as a dependent variable. Investors' perception regarding fluctuations in gold and silver prices is largely influenced by financial literacy, transparency, regulatory assurance, and trust in the platform. Better informed consumers generally perceive market fluctuations more rationally and are less likely to exhibit panic investment behaviour.

Finally, Investment Affordability appears at the highest level of the hierarchy, indicating that it represents the most dependent variable. Consumers perceive digital gold investment as affordable only after trust, awareness, regulatory support, platform accessibility, and transparency have been adequately established.

Overall, the ISM model demonstrates that improving regulatory confidence and financial literacy indirectly strengthens all remaining variables within the system, ultimately encouraging greater consumer participation in digital precious-metal investments.

Managerial Implications-

The findings of this study offer several practical implications for fintech companies, policymakers, digital investment platforms, and financial educators.

First, fintech companies should prioritize consumer education initiatives aimed at improving financial literacy. Educational campaigns explaining the features,

benefits, risks, and operational mechanisms of digital gold investments can significantly improve consumer confidence and increase platform adoption.

Second, regulatory authorities should establish comprehensive regulatory guidelines governing digital gold and silver investments. Strong regulatory oversight enhances investor protection, minimizes fraud, and strengthens public confidence in digital investment ecosystems.

Third, Paytm and similar fintech companies should continuously strengthen platform security, privacy protection, and transaction transparency. Providing authenticated certificates of purity, secure storage facilities, real-time pricing, and detailed transaction records enhances trust and reduces perceived investment risk.

Fourth, organizations should invest in improving digital accessibility by developing intuitive mobile interfaces, multilingual support, simplified investment procedures, and responsive customer service. Enhanced accessibility encourages wider adoption among consumers with varying levels of digital literacy.

Fifth, organizations should actively strengthen their brand reputation through ethical business practices, transparent communication, and consistent service quality. A positive brand image significantly enhances consumer trust and long-term platform loyalty.

Finally, digital investment platforms should leverage social media, influencer marketing, and educational webinars to positively influence consumer attitudes and encourage informed investment decisions among younger investors.

Theoretical Implications-

The present research contributes to the existing body of knowledge in several ways.

First, it extends the application of Interpretive Structural Modelling (ISM) and MICMAC analysis to the domain of digital precious-metal investments, an area that has received limited academic attention.

Second, the study develops a hierarchical framework explaining the structural relationships among behavioural, technological, institutional, and financial variables affecting consumer investment decisions.

Third, unlike conventional statistical approaches, the ISM framework distinguishes between primary driving variables and dependent outcome variables, thereby providing a deeper understanding of causal relationships.

Finally, the research integrates concepts from behavioural finance, digital financial inclusion, consumer behaviour, and FinTech adoption into a comprehensive conceptual framework.

Conclusion-

The rapid growth of financial technology has transformed traditional investment behaviour by introducing innovative digital investment platforms that provide convenience, affordability, transparency, and flexibility. Among these innovations, digital gold and silver investment platforms have emerged as attractive alternatives for retail investors seeking secure and accessible investment opportunities.

The present study successfully identified the major factors influencing consumer investment decisions towards digital gold and silver investments using Interpretive Structural Modelling and MICMAC analysis.

The ISM hierarchy reveals that Regulatory Assurance and Financial Literacy represent the strongest driving variables influencing the remaining factors within the system. These variables indirectly determine consumer trust, digital accessibility, brand image, transparency, social influence, and investment behaviour. Variables such as Trust in Platform, Liquidity, Digital Accessibility, Brand Image, and Transparency function as linkage variables because they simultaneously influence and depend upon other factors.

Investment Affordability and Price Volatility Perception emerge as highly dependent variables, indicating that consumer perception regarding affordability and market fluctuations largely depends upon improvements in the primary driving variables.

The findings emphasize that merely providing digital investment facilities is insufficient for encouraging widespread consumer adoption. Rather, organizations must simultaneously strengthen financial awareness, regulatory confidence, platform security, transparency, and customer trust to establish a sustainable digital investment ecosystem.

Overall, the proposed ISM–MICMAC framework provides valuable strategic insights for fintech organizations, regulators, policymakers, and researchers seeking to improve digital investment adoption and strengthen consumer confidence in digital financial services.

Limitations of the Study-

Although the study provides valuable insights, several limitations should be acknowledged.

The study focuses only on the Paytm Digital Gold Platform; therefore, the findings may not be directly applicable to other fintech platforms.

The ISM methodology relies upon expert judgments, which may involve subjective interpretations.

Only ten variables were considered in the present analysis. Additional behavioural, technological, and macroeconomic variables may further improve the structural model.

The research primarily adopts a qualitative ISM approach without statistical validation through Structural Equation Modelling (SEM).

Future Research Directions-

Future researchers may extend the present study by including additional fintech platforms such as PhonePe, Google Pay, Groww, Zerodha, and investment applications offering digital precious-metal services.

Comparative studies across different demographic groups, income categories, and geographical regions may provide broader insights into consumer investment behaviour.

Researchers may integrate ISM with advanced methodologies such as TISM, DEMATEL, Fuzzy ISM, SEM, or Bayesian Networks to further validate the proposed hierarchical framework.

Future research may also investigate the influence of Artificial Intelligence, Blockchain technology, ESG investing, Robo-advisory systems, and Digital Financial Inclusion on consumer investment decisions.

References-

- Ajzen, I. (1991). The theory of planned behavior. *Organizational Behavior and Human Decision Processes, 50*(2), 179–211. https://doi.org/10.1016/0749-5978(91)90020-T
- Bhisikar, A., Zala, H., & Vidani, C. (2024). Investors' perception towards digital gold investment. *International Journal of Research and Analytical Reviews*.
- Chaffey, D., & Ellis-Chadwick, F. (2022). *Digital marketing* (8th ed.). Pearson Education.
- Davis, F. D. (1989). Perceived usefulness, perceived ease of use, and user acceptance of information technology. *MIS Quarterly, 13*(3), 319–340. https://doi.org/10.2307/249008
- Kumar, R., & Rao, P. (2021). Comparative study of gold and silver investment behaviour. *Indian Journal of Finance*.
- Lahoti, R. (2017). Investor perception towards gold investment. *International Journal of Management Studies*.

- Mehta, S., & Joshi, A. (2019). Investor preferences for ETFs and physical gold. *Finance India*.
- Menon, R. (2020). Gold investment behaviour during economic uncertainty. *Journal of Financial Markets*.
- Pandey, A., Sharma, P., & Gupta, V. (2025). FinTech adoption in electronic gold investment. *International Journal of Financial Innovation*.
- Selvaraj, K., & Sudha, M. (2022). Factors influencing digital gold investment behaviour. *International Journal of Commerce and Management Research*.
- Sharma, V., & Gupta, R. (2021). Digital investment behaviour and financial literacy. *International Journal of Financial Studies*.
- Singh, A., & Kaur, N. (2019). Motives behind gold investment decisions. *Journal of Economic Behaviour*.
- Sundaravadhani, M., & Sathya, R. (2016). A study on various forms of investment in gold. *International Journal of Applied Research*.
- Warfield, J. N. (1974). Developing interconnection matrices in structural modelling. *IEEE Transactions on Systems, Man, and Cybernetics, 4*(1), 81–87. https://doi.org/10.1109/TSMC.1974.5408524
- Zadeh, L. A. (1965). Fuzzy sets. *Information and Control, 8*(3), 338–353. https://doi.org/10.1016/S0019-9958(65)90241-X

NOTES FOR AUTHORS,

The Equanimist...A peer reviewed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to **theequanimist@gmail.com**

Some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within three months. As a general rule, **The Equanimist** operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5 or double), an

abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list,

and a word count on the front page (include all elements in the word count).

Regular articles are restricted to an absolute maximum of 10,000 words, including all elements (title

page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, **The Equanimist** publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:

(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation

(b) abstract

(c) main text

(d) list of references

(e) biographical statement(s)

(f) tables and figures in separate documents

(g) notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts. against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5 or double.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

The Equanimist is a Bilingual Journal,i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.For UK spelling we use -ize [standardize, normalize] but -yse [analyse, paralyse]. For US spelling,-ize/-yze are the standard [civilize/analyze]. Note also that with US standard we use the serial comma (red, white, and blue). We encourage gender-neutral language wherever possible. Numbers higher than ten should be expressed as figures (e.g. five, eight, ten, but 21, 99, 100); the % sign is used rather than the word 'percent' (0.3%, 3%, 30%).Underlining (for italics) should be used sparingly. Commonly used non-English expressions, like ad hoc and raison d'être, should not be italicized.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200–300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the

actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be

written in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order to increase the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table.Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure.Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference

11. Biographical statement

The biosketch in **The Equanimist** appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.

THE Equanimist
A peer reviewed refereed journal

SUBSCRIPTION ORDER FORM

1. NAME……………………………………………………………………………….…………………...
2. ADDRESS……………………………………………………………………………………………..
   …………………....………………………………………………………………………………
   …………..……………………………………………………………………………………………
   TEL…...…...……………..…...….MOB………...……………..…EMAIL………………………………..
3. TYPE OF SUBSRIPTION: TICK ONE INDIVIDUAL/INSTITUTION
4. PERIOD OF SUBSCRIPTION: ANNUAL/FIVE YEARS
5. DD……………………….……...............................…DATE……..…………..……………………..
   BANK…………………………………………………………...………………………………………..
   AMOUNT (IN WORD)………….................................…AMOUNT (IN NUMBERS)………...………

DEAR CHIEF EDITOR,

KINDLY ACNOWLEDGE THE RECIPT OF MY SUBSCIPTION AND START SENDING THE ISSUE(S) AT FOLLOWING ADDRESS:

………
…………………………………………………………………………………………….…………
…………………………………………………………………………………………...……….

THE SUBSRIPTION RATES ARE AS FOLLOWS W.E.F. 01.04.2015

INDIA (RS.)

TYPE	INDIVIDUAL	INSTITUTION
ANNUAL	RS. 1000	RS. 1400
FIVE YEARS	RS. 4500	RS. 6500
LIFETIME	Rs. 18,000	Rs. 20,000

YOURS SINCERELY
SIGNATURE
NAME:
PLACE:
DATE:

Please Fill This Form and deposit the money through net banking. Details are BANK- STATE BANK OF INDIA Name SHREE KANT JAISWAL A/C – 32172975280.IFSC –SBIN0003717 Branch: SINDHORA BAZAR VARANASI. After depositing the money please e-mail the form and receipt at theequanimist@gmail.com

Published By

Oriental Human Development Institute
121/3B1 Mahaveerpuri, Shivkuti Road.
Allahabad-211004